श्रीश्री राधागिरिधरौ विजयेताम्
श्रीश्री गदाधरगौराङ्गौ जयतः
श्री प्रेमसम्पुटः
श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ति प्रणीतः
श्री हरिदासशास्त्री

वृन्दावनपुरन्दर रसराजमूर्त्तिधर त्रिभुवनमनविमोहन ।
राधाहृदयबन्धु रासलीलारससिन्धु व्रजवासिगणप्राणधन ॥

जयजय श्रीनन्दनन्दन ।

★ ★
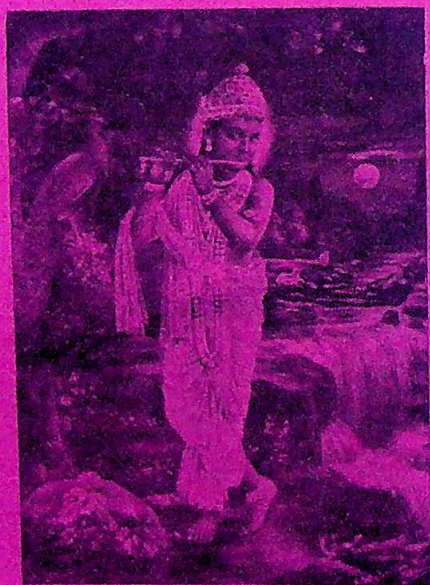
* श्रीश्री गदाधरगौराङ्गौ विजयेतेतमाम् *

श्री प्रेमसम्पुटः

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ति प्रणीतः

श्री वृन्दावन वास्तव्येन न्याय वैशेषिक शास्त्रि-
नव्य न्यायाचार्य्य-काव्य-व्याकरण-सांख्य-वेदान्त मीमांसा
तर्क-तर्क-तर्क-वैष्णवदर्शन तीर्थ-विद्यारत्नाद्युपाध्यलङ्कृतेन

श्री हरिदास शास्त्रिणा

सम्पादितश्च ।

सद्ग्रन्थ प्रकाशकः
श्री गदाधर गौरहरि प्रेस,
श्री हरिदास निवास
कालीदह, वृन्दावन

❋ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❋

——❋——

❀ विज्ञप्तिः ❀

"**प्रेमसम्पुट**" नामक अनुपमव्रजप्रेम तत्त्व परिवेपक ग्रन्थ, सज्जनगण समक्षेमेंउपस्थापित हुआ, ग्रन्थकर्त्ता विश्रुतकीर्त्ति श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठक्कुर हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में व्रजप्रेमका स्वरूप, सरल भाषा द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। देवाङ्गनावेशधारी कृष्ण को देखकर उनको रुग्न समझकर श्रीभानुनन्दिनी रोगनिराकरणकेलिए विविध उपाय करने पर कौतुकी कृष्ण, व्रज प्रेमतत्त्व अवगत होने के लिए निजमनो दुःख का कारण स्वरूप रास लीला में श्रीकृष्णान्तर्धानादि प्रचेष्टा को लेकर श्रीकृष्ण के प्रति अनेक दोषारोपण किए एवं भानुनन्दिनी का उत्कर्ष प्रतिपादन करके भी श्रीकृष्णके प्रतिश्रीमती राधाकी परमासक्तिभी सन्दिग्ध है। इस प्रकार व्रजीय प्रेम के सम्बन्धमें श्रीकृष्ण सन्दिग्ध होने पर श्रीमती राधिका की वाणी से व्रज प्रेम स्वरूप अभिव्यक्त हुआ। प्रेम तत्त्व का मूलाधार श्रीराधा प्रेम तत्त्व सम्पुट को खोलकर बोली,

एकात्मनीह रस पूर्णतमेऽत्यगाधे
एकासुसंग्रथितमेव तनुद्वयं नौ।
कस्मिंश्चिदेकसरसीव चकासदेक
नालोत्थमब्ज युगलं खलु नील पीतम् ॥१०८॥

यत् स्नेहपूरभृतभाजनराजितैक
वर्त्यग्रवर्त्ममलदीपयुगं चकास्ति।
तच्चेतरेतरतमोऽपनुदत् परोक्ष
मानन्दयेदखिल पार्श्वगताःसदालीः ॥१०९॥

हम दोनों परस्पर के चित्तमें अवस्थान करते हैं अतएव दोनों ही दोनों के मन को जानते हैं; इस प्रकार जो लोक प्रवाद है, वह आरोपित मात्र है. कारण हम दोनों एकात्मक हैं, अतएव उक्त एक वस्तु केलिए दो होना कभी सम्भव ही नहीं है।

जिस प्रकार किसी एक सरोवर में एक नाल से उत्थित नील एवं पीतवर्णके दो कमल विकसित होतेहैं, उस प्रकार अतिशय गम्भीर परम रसमय एक आत्मा में नील एवं पीतवर्ण के हमारे दो देह एक ही प्राण रूप सूत्र से संग्रथित हैं। अर्थात् हम दोनों के शरीरगत पार्थक्य होने पर भी स्वरूपगत किसी प्रकार भी पार्थक्य नहीं है। कारण श्रीकृष्ण, स्वरूप में आनन्द हैं, और मैंस्वरूप में ह्लादिनी हूँ। शक्ति एवं शक्तिमान् में अग्निएवं उसकी दाहिका शक्ति के समान कुछ भी प्रार्थक्य नहीं है। जब तक स्वरूप एवं शक्ति की ओर दृष्टि रहेगी तबतक हम दोनों में प्रभेदनहीं मिलेगा, किन्तु परस्पर आस्वादन गत विचार में हम दोनों मूर्त्त रूपमें राधा, आराधिका, कृष्ण, आराध्य संज्ञा से भेद रूपमें प्रकाशित होते हैं, कारण लीला को छोड़कर परस्पर का सविशेष आस्वादन नहीं होता है, अथच मूर्त्तन होने पर लीला भी नहीं हो सकती है, इस अभिप्राय की श्रीगोपाल चम्पूकार की एक मनोहर सूक्ति इस प्रकार है—

इमौगौरीश्यामौ मनसि विपरीतौ वहिरपि
स्फुरत्तत्तद्वस्त्राविति वुधजनै र्निश्चितमिदम्।
सकोऽप्यच्छप्रेमा विलसदुभयोः स्फूर्त्तिकतया
दधन्मूर्त्तीभावं पृथगपृथगमप्याविरुदभूत्॥

श्रीराधा कृष्ण निज निज हृदय में विपरीत हैं। अर्थात् श्रीराधा के हृदय में श्रीकृष्ण विराजित हैं, और श्रीकृष्ण के हृदय में श्रीराधा विराजित हैं। वाहर भी श्रीराधा कृष्ण के अङ्गकान्तिकी भांति श्याम वर्ण के वस्त्र परिधान करती हैं, एवं श्रीकृष्ण भी श्रीराधाङ्गकान्ति

सदृश पीतवर्ण के वस्त्र धारण करते हैं, यह देखकर बुधगण निर्णय करते हैं कि-किसी एक अनिर्वचनीय पवित्र प्रेम स्फूर्त्ति रूप में विलास करने के लिए मूर्त्ती भाव को अङ्गीकार कर पृथक् रूपमें आविर्भूत हुये हैं।

और भी जिस प्रकार प्रचुर तेलपूर्ण एक पात्र स्थित एक वर्त्ती के दो मुख के अग्रभाग प्रज्ज्वलित होकर उभय ही उभय के अन्धकार का साक्षात् नाश करते हैं, ठीक उसी प्रकार एक आत्मामें एक प्राण सूत्र से बद्ध हमारे दो देह, परस्पर के दुःख को विदूरितकरके समीप स्थित सखीगण को आनन्दित करते हैं,।

जीव अनादि काल से जिसका अनुसन्धान व्याकुल भाव से कर रहा है, जिसको प्राप्त कर लेने से ही जीव परम पूर्ण होता है- जो श्रीभगवान् के निगूढ़ सम्पद् है, उस भगवत् प्रेम को परम करुण भगवच्छ्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु अयाचित भावसे सर्वत्र वितरण कर गये हैं, भगवद्रसिकभक्ताग्रणी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती महाशयने उक्त विशुद्ध प्रेम तत्त्व को प्रस्तुत प्रेम सम्पुट ग्रन्थ में अभिनव रीतिसे निबद्ध किया है।

प्रेम का एक मात्र विषय रसिकेन्द्रशिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेम स्वरूप अवगत होनेके लिए कौतुक वश प्रेमका एकमात्र परमाश्रय, एवं उसकी चरम परिणति स्वरूपा अखण्डरस वल्लभा श्रीराधा के निकट में देवाङ्गना वेष में उपस्थित हुयेथे। श्रीराधा प्रेमसम्पुट को उद्घाटित कर परिव्यक्त किये हैं, इस प्रकार सरस अनवद्य प्रेम सिद्धान्त पूर्ण ग्रन्थाध्ययन से सुखीगण अतिशय आनन्दित होंगे।

ग्रन्थवर्णन की प्रेरणा एवं समय निर्णय को ग्रन्थस्थ अन्तिम श्लोक में ग्रन्थकारने कहा है। १६०६ शकाब्द के फाल्गुन मास में श्रीराधाकुण्ड श्रीश्यामकुण्डके तीर में अवस्थित होकर श्रीरूपगोस्वामी पाद के वाक्य माधुर्यरूप अमृत पान से पुष्ट व्यक्ति ने इस प्रेम सम्पुट नामक निर्दोष काव्य का प्रणयन किया।

हरिदासशास्त्री

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

—*—

श्रीप्रेमसम्पुटः

—*—

प्रातः कदाचिदुररीकृतचारुरामा
वेशो हरिः प्रियतमाभवनप्रघाणे ।
गत्वारुणांशुकतटेन पिधायवक्त्रं
नीचीनलोचन युगः सहसावतस्थे ॥१॥

नत्वा कृष्ण पदद्वन्द्वं नीलपीताब्जसंज्ञकम्
प्रेम सम्पुट विश्लेषं करोम्यहं यथामति ।
विश्वनाथमहं वन्दे करुणाकरुणालयम्
यत्प्रसादान्नियुक्तोऽस्मि प्रेमसम्पुटदर्शने ॥

अथ सोऽयं निखिलकविकुलकुमुदसुधाकरो श्रीमद्भागवत सारार्थप्रतिपादनैकनिपुणः श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ति चरणः श्रीमद्भागवतीय रससिद्धान्तवर्णनव्याजेन श्रीराधिका गिरिधरयोरभिनवकौतुकमयींलीलां वर्णयति प्रातरिति,कदाचित् कस्मिंश्चित्समये प्रातःप्रभात समये हरिः परममनोहरः सर्वाकर्षकः श्रीकृष्णः उररीकृत चारुरामा वेशः-अङ्गीकृत सर्वचित्ताकर्षक ललनावेशः सन् भवन प्रघाणे यावट पुरस्थ श्रीवृषभानुनन्दिन्या वासगृह प्राङ्गणे अरुणांशुक तटेन रक्त वर्णयुक्त वसनाञ्चलेन वक्त्रं श्रीवदनं पिधाय अवगुण्ठनंकृत्वा नीचीन लोचनयुगं अवनमितनेत्रयुगलः सन् सहसा अतर्कितरूपेन गत्वा आगत्य अवतस्थे तस्थौ । अत्र प्रायशः वसन्ततिलकं वृत्तं प्रतिभाति तल्लक्षणञ्च-ज्ञेयं वसन्त तिलकं तभजाजगौगः । मधुर रसस्य यथार्थ लक्षण प्रदर्शनार्थमेवास्य ग्रन्थस्योत्थिति र्जाता, अतएव श्रीवृषभानु

आराद्विलोक्यतमथो वृषभानुपुत्री
प्रोवाच हन्तललिते सखि पश्य केयम् ।
स्वस्यांशुभिर्हरिमणीमयतां निनाय
मत् सद्मपद्मवदनाद्भुतभूषणाढ्या ॥२॥

नन्दिन्या: कैङ्कर्य्याभिलाषी जनएवात्राधिकारी एतेन सम्वन्ध विषय प्रयोजनान्युक्तानि भवन्ति ॥ १ ॥

तदनन्तर कृत्यमाहआरादिति अथो-अनुपम रमणी वेशकारिण श्रीकृष्णस्यावगुण्ठनावस्थायामवस्थितिं दृष्ट्वावृषभानुपुत्रीवृषभानु तनया आरात् किञ्चिद्दूरात् तं परममनोहरं रमणीवेशधारिणंकृष्ण विलोक्य निभाल्य प्रोवाच कथितवती, हन्त ! परमाश्चर्य्यद्योतकम व्ययं । सखि ललिते ! पद्मवदना कमलमुखी अद्भुतभूषणढ्यामनोहर रसाधायक भूषण भूषिताया स्वस्य अंशुभिःनिज तनुच्छटाभि: मत्सद्म मम गृहं हरिमणीमयतां नीलकान्तमणिमयत्वं निनाय कृतवती, सा रमणीयं का कुत आयाता, त्वं पश्य,परिचयं कुरु ॥२॥

गौरगदाधरौवन्दे कृष्ण राधा स्वरूपिणौ
यत्प्रसादात् समर्थोऽस्मि प्रेमसम्पुटवर्णने ।
श्रीनृसिंह पाद पद्मं नत्वा स्मृत्वासभक्तिकं
श्रीप्रेमसम्पुटव्याख्यां करोम्यहं यथामति ॥

एक दिवस प्रात: काल में श्रीकृष्ण मनोहर रमणीवेश धारण पूर्वक श्रीभानुनन्दिनी के घरके आङ्गन में उपस्थित होकर अरुण वर्ण वसनाञ्चल से अपना वदन कमल को ढाक कर लोचनद्वय को अवनत करके सहसा बैठगए ॥ १ ॥

अनन्तर श्रीभानुनन्दिनी कुछ दूरसे उनको देखकर कहने लगी कैसी आश्यर्य्य कीवात है, सखि ललिते ! यह पङ्कजवदनी मनोहर

श्रुत्वा सखीगिरमथो ललिता विशाखे
तं प्रोचतुर्द्रुत मवाप्य तदाभिमुख्यम् ।
का त्वं कृशोदरि कुतः किमु वाथ कृत्यं
ब्रूहीत्यसौ प्रतिवचस्तु ददौ न किञ्चित् ॥३॥
श्रीराधिकाप्यथ वितर्क पुरःसरं तं
पप्रच्छ कौतुकवशादुपगम्य सम्यक् ।

श्रुत्वेति । श्रीवृषभानुनन्दिन्या निदेशमवाप्य अथो अनन्तरं ललिताविशाखे सखीद्वयं सखीगिरंसख्या वृषुभानुनन्दिन्या आदेशवाणीं श्रुत्वा आकलय्य द्रुतमतिसत्वरं तदाभिमुख्यं ललनावेषधारिणःकृष्ण स्य समीपं अवाप्प प्राप्य तं कृष्णं प्रोचतुः कथितवत्यौ, कीदृशं तत्,तदे वाह 'त्वं का, कुतः आगताअथ किमुवा कृत्यंप्रयोजनं अस्ति इतिब्रूहि, एतत् प्रश्नत्रयं ललिता विशाखे कृतवत्यौ । प्रश्नं निशाम्य असौ मधुरश्यामस्तु किञ्चित् इङ्गितेनापि प्रतिवचः उत्तरं न ददौ ॥३॥
यदातेनकिमप्युत्तरं न दत्तं तदा किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह श्रीराधिकेति अथ उत्तरं यदा तेन न दत्तं तदा श्रीराधिका अपि श्री भानुनन्दिनी स्वयंहि कौतुकवशात् कौतूहलाक्रान्त हृदयेन किमपि

वसन भूषिता रमणी निज अङ्ग कान्ति द्वारा मदीय भवनको इन्द्र-नीलमणिमय कर विराजरही है, यह कौनहै ? देखो ! ॥२॥

अनन्तर भानुनन्दिनी की वाणी को सुनकर ललिता विशाखा सत्वर उन के निकट जाकर कहनेलगी, हे कृशोदरि ! तुम कोन हो ? कहाँसे आई हो ? आनेकी आवश्यकता क्या है ? यदि कोई आपत्ति न हो तो वृत्तान्त कहकर हमारी सखियों के कौतूहल निवारण करो । अभ्यागता रमणी नेउनके वाक्य का कुछभी प्रत्युत्तर नहीं दिया ॥३॥
इसके वाद स्वयं श्रीराधिकाजी परिहास कर मनही मन अनेक

कात्वं स्वरूप महसैव मनो हरन्ती
देवाङ्गनासि किमहो सुषमेव मूर्त्ता ॥४॥
तूष्णीं स्थितं तदपि तं पुनराह भावि-
न्यात्मानमाशु कथयात्र यदि त्वमागाः ।
जानीहि न स्तव सखीः परमान्तरङ्गाः-
किं शङ्कसे नतमुखि त्रपसेऽथकिम्बा ॥५॥

मञ्जुमहित्वस्यावलोकनार्थं उपगम्य निकटं आगत्य सम्यक् वितर्क पुरःसरं परिपूर्णं तर्कादि वाक्जालेन सहितं तं दिव्याङ्गना वेशधारिणं श्रीकृष्णं पप्रच्छ कीदृशी जिज्ञासा तामाह, स्वरूप महसा स्वेनैव कान्त्या एव मनोहरन्ती त्वं का असि ? त्वं किं देवाङ्गना ? अहो ! मूर्त्ता साक्षात्मुर्त्ति स्वरूपिणी सुषमा कान्तिरिव विराजसे ॥ ४॥

प्रश्नेकृते यदा स निरुत्तरं आसीत् तदा भानुनन्दिन्याः कोवा उपायः कृत इत्यपेक्ष्यायामाह तूष्णीमिति तदपि कृतेऽपि कुशल प्रश्ने तूष्णीं स्थितं मौनावलम्बनेन स्थितं तं श्रीकृष्णं पुनः भानुनन्दिनीआह, हे भाविनि ! अयि हावभावविशिष्टानारि ! भूधातोरस्त्यर्थे-इनुऽपचेति यदि भाग्योदयेन अस्मदीय गृहेऽत्रत्वमुआगाः आगतासि तदा आशु सत्वरमेव आत्मानं स्व परिचय प्रदानं कुरु कथय । तव मौनावलम्ब नस्य कारणं किं अत्र लज्जा स्थानंमपि नास्ति नः अत्र स्थितान् अस्मान् तव परमान्तरङ्गाः सुविश्वस्ताः सखीः जानीहि अवधारय ।

संशय लेकर देवाङ्गनावेष धारी श्रीकृष्णके समक्ष में जाकर जिज्ञासा की हे सुन्दरि ! तुम कौन हो ? तुम्हारी अङ्गकान्ति हमारी मनो हरण करती है, तुम क्या कोई देवाङ्गना हो ? अहो ! मैं तुम्हेंमूर्त्ति मती शोभा की भाँति विराजित देख रही हूँ ॥४॥

ऐसा होने परभी वह रमणी निरुत्तर रही, यह देखकर भानु

निश्वस्य कञ्चन विषाद मिवाभिनीय
वक्त्रं विवृत्य तमखण्डितमौनमुद्रम् ।
साप्राह हन्त रुजमावहसीति सत्यं
ज्ञातं न तामृत इहेदृशता तवस्यात् ॥६॥

पुनरपि सम्वोध्य पृच्छति हे नतमुखि ! अवनतवदने किं शङ्कसे कथं विभेषि ? अथवा किं लज्जसि ? अत्र लज्जाभयस्थानं नास्तीत्यर्थः ॥

सोत्सुक्येन पुनः पुनः कृते प्रश्ने रमणीवेषधारिणो यादृश्य वस्था आसीत् तामभिनयेनाह-निश्वस्येति निश्वस्य अन्तःखेद प्रकाशकं दीर्घश्वासंत्यक्त्वा कञ्चन अनिर्वचनीयं विषादं ग्लानिमिव अभिनय द्वारेण प्रकटय्यवक्त्रं वदनं विवृत्य प्रत्यावर्त्तनं कृत्वा अखण्डित मौनमुद्रं प्रथमवदेव तूष्णीं स्थितं तं दिव्याङ्गना वेशधारिणं कृष्णं सा भानुतनया प्राह, हन्त ! खेदस्य वार्त्तेयं ! हे सुन्दरि ! ज्ञातं मया सत्यं रुजम्, आवहसि तव हृदये किमागः क्लेशं वर्त्तते । तां रुजम् ऋते विना इह अस्मिन् समये तव नवयौवनसम्पन्नायाः ईदृशता मुनिव्रतं न स्यात् ॥ ६ ॥

नन्दिनी पुनर्वार कही हे भाविनि ! जव तुम यहाँपर आई हो तव सत्वर निज परिचय कहकर हमारे कौतूहल को शान्त करो ! हमें अपनी अन्तरङ्गा सखी जानो । हे नतमुखि ! हमारे पास शङ्का अथवा लज्जा की वातही क्या है ? ॥५॥

यह सुनकर वह रमणी एक दीर्घ निश्वास लेकर विषाद भाव को प्रकट करती हुई निज वदन कमल कोफेर कर पूर्ववत् मौन अवलम्बन कर रहगई । इस प्रकार अवस्था को देखकर भानुनन्दिनी देवाङ्गना वेषधारी श्रीकृष्णको कहने लगी, हेसुन्दरी ! मैं समझ रही हूँ कि तुम्हारें हृदय में कुछ पीड़ाहैं, ऐसा न होनेपर तुम्हारा ऐसाभाव नहीं होता ॥६॥

तां ब्रूहि कञ्जमुखि विश्वसिहि प्रकाशं
मय्येव तत् प्रतिकृतौ च यथा यतेय ।
उद्गीर्ण एव सुहृदन्तिक एति शान्तिं
यन्मानस व्रज विपाकजतीव्रदाहः ॥७॥
कान्तेन किं त्वसि सम्प्रति विप्रयुक्ता
तथैव वा विगुणतोदयतः प्रतप्ता ।

निवेद्यदुःखं सुखिनो भवन्तीतिन्यायमुररीकृत्य सामवचनमाह तामिति । हे कञ्जमुखि ! कमलानने ! तां कष्टदां दशां ब्रूहि एवं मयि तव अन्तरङ्ग सखिस्थानीयाम् प्रकामम्–सर्वथैव विश्वसिहि विश्वासं कुरु । तत् प्रतिकृतौ तव दुःखस्य अपनोदनेयथा यतेयं प्रयत्नं करोमि । यत् यस्मात् कारणात् मानसव्रण विपाकज तीव्र दाह मानसः आभ्यन्त रीयः यः व्रणः तस्य विपाकात् जातःयःतीव्रः असहनाद् दाहः मर्मपीड़ा इत्यभिप्रायः । सः सुहृदन्तिके शोभन हृदयस्य सुविश्वस्तजनस्य निकटे उद्गीर्णः सुव्यक्तः एव शान्तिं एति प्राप्नोति ॥७॥

आधिकारणसमूहं प्रकटय्य भानुतनया छद्म वेशिनं कृष्णं पृच्छति–कान्तेनेति त्वं किं सम्प्रति अधुना कान्तेन स्व ममतास्पदेन विप्रयुक्ता रहिता असि भवसि ? एकं, द्वितीयञ्चाह वा अथवा तस्य प्रियस्य एवविगुणतोदयतः प्रतिकूलाचरणदर्शनेन प्रतप्ताग्लानियुक्ता

हे कञ्चमुखि ! तुम तुम्हारी हृदय व्यथा को कहो ! मुझ पर एकान्त विश्वास करो ! तुम्हारे दुःख दूर करने के लिए मैं साध्या नुसार यत्न करूँगी । कारण आन्तरिक–विषाद रूप व्रण के विपाक से असहनीय यातना को अन्तरङ्ग सुहृद के निकट व्यक्त करने से वह प्रशमित होती है ॥७॥

क्या तुम सम्प्रति अपने प्रियतम से विछुड़गईहो ? अथवा उनका

किं स्वागसस्तदविसह्यतया विभेसि
तत् किं नु कल्पितमहो पिशुनैर्नसत्यम् ॥८॥
किंवा विवोढ़रि मनः सघृणं तवाभू-
न्मन्दे रतं क्वचन पुंसि वरे दुरापे।
तत्त्वं कटूक्ति पटुना वत मादृशीव
सन्तर्ज्यते गुरुजनेन ततोऽसि दूना ॥९॥

असि ? तृतीयमप्याह–किंवा स्वागसः निजकृत प्रतिकुलाचरणात् तद विषह्यतया तस्य कान्तस्य असहनीयतया विभेषि भीतासि ? अहो ! सर्वापेक्षाविस्मयावहमेवकारणं एतदेव न सत्यम् असत्यम्-मिथ्या, तत् आगः प्रतिकूलाचरणं किं नु पिशुनैः खलैः पिशुनौ खलसूचकौ। कल्पितः स्वकल्पनमेवोपस्थापितम् ॥८॥

आन्तरदुःखस्यापरकारणमपि पृच्छति किम्वेति, किंवा अपरं प्रसिद्धंदुःखकारणं किं तव वर्त्तते। मन्देआलस्यपरायणे अलसरूपे विवोढ़रिभर्त्तरि, सघृणं द्वेष युक्तं तवमनः-अभूत्। वतइति अति शयदुःख प्रकटने। क्वजन दुर्लभे वरे श्रेष्ठे पुंसि कान्ते रतम् आसक्तम् अभूत्। तत् तस्मात् कारणात् मादृशी इव त्वं कटूक्ति-पटुना श्वश्र्वा दिभिःसन्तर्ज्यसे सदा तिरस्कृता भवसि ततः तस्मात् कारणात् दूनासि क्लेशं प्राप्नोसि ॥९॥

दोष देखकर दुःखी होगई हो, किम्वा उनके पास आपना असहनीय किसी अपराध हो जाने के कारण उससे डर गई हो ? हाय तुम्हारि नाम पर किसी खल व्यक्तिने तुम्हारे प्रियतम के निकट किसी मिथ्या अभियोग उपस्थित कर दिया है ॥८॥

किम्बा पति उत्तम नहीं है इसलिए तुम्हारे मन में घृणा ! उदित होनेपर तुम किसी दुर्ल्लभ पुरुष रत्न में आसक्त होगई हो ?

कच्चिन्नु तन्वि खरवाक्शरविद्धमर्म्मा
सौभाग्यलेश मदिरान्धधियः सपत्न्याः ।
सम्भाव्यते त्वयि नचैतदही परा का
त्वत्तो वहत्वतुलसौभगचारुचर्च्चाम् ॥१०॥
त्वं मोहिनी श्रुतचरी किमु मोहनार्थं
शम्भो-रिवेन्दुमुखि कस्य हठादुदेषि ।

पुनरपि सोत्सुक्यं पृच्छति कच्चिदिति । नु पृच्छायाम् भोः तन्वि मन्दोदरि ! त्वं सौभाग्यलेशमदिरान्धधियः सुभगस्य भावः सौभाग्यम् तस्य लेशएव मदिरा तया अन्धाधी र्यस्याः तस्याः सपत्न्याः खरवाक्शर विद्धमर्मा खरः शाणितः तीक्ष्ण वागेवशर तेनविद्धं मर्म्मं अन्तरं यस्याः सा कच्चित् ? नहि नहि त्वयि एतत् क्लेशं न च सम्भाव्यते, । अस्य क्लेशस्य सभावना एव त्वयि न वर्त्तते । अहो ! त्वत्तः परा श्रेष्ठा का स्त्री अतुलसौभगचारुचर्च्चाम् अतुलनीय सौभाग्य शोभां वहतु धारयति ॥१०॥

मौनव्रतभङ्गाय पुनरपि सुमधुरवचसा प्रयतते त्वमिति । हे इन्दुमुखि ! चन्द्रवदनि, तव श्रीमुखसन्दर्शनेनैव मनोमुकुरमुल्लास पूर्ण भवेदिति भावः । त्वं किमु प्रश्ने, श्रुतचरी मोहिनी समुद्रमन्थनलीला

एवं तज्जन्य मेरेसमान तुमभी कटूक्ति-पटु गुरुजनद्वारा सदा तिरस्कृत हो रही हो ? येसव क्या तुम्हारे विषाद का कारण हैं ? ॥९॥

अयि कृशाङ्गि ! तुम्हारी सपत्नी सौभाग्यलेश मदसेअन्ध होकर अपने तीक्ष्ण वाक्य वाण द्वारा तुम्हारे हृदय को विद्ध करती है ? नहीं, यह भी स्वभाव नही है । कारण तुम्हें छोड़कर अन्य किसी रमणी को अतुलनीय सौभाग्य लक्ष्मीका आश्रय मैं नहीं देखपातीहूँ ।१०

हे इन्दुमुखि ! भगवती पौणमासी के मुख से मैंने मोहिनी की

किञ्चेक्षते यदि हरिस्तदपाङ्ग विद्ध-
स्त्वां कौतुकंभवतितद्व्यतिमोहनाख्यम् ॥११॥
श्रुत्वोत्तरीय परियन्त्रित सर्वगात्रं
रोमाञ्चितं तमुपलभ्य जगाद राधा ।
हा किं सखित्वमसि दैहिकदुःख दूना
वक्षोऽथपृष्ठमथवा व्यथतेशिरस्ते ॥१२॥

यां अजितेन मोहिनी वेषं धृत्वा अमृतस्य वन्टनं कृतं देवादिदेवेन महा देवेनेदंश्रुतं, अनन्तरं तस्य तद्रूपस्य दर्शनार्थ मिच्छा जाता, तेनापि हठात् तद्रूपं दर्शयित्वा शम्भुर्मोहितः। इति प्रसिद्धा पौराणिकी वार्ता वृद्धा प्रमुखादस्माभिः श्रुता। शम्भोः महादेवस्य इव अत्र कस्य जनस्य मोहनार्थं मुग्धता सम्पादनाय हठात् अकस्मात् उदेषि ? किञ्च सम्प्रति त्वदपाङ्गविद्धः तव भावपूर्ण कटाक्ष वाण विद्धः सन् हरिः परम मनोहरः यदि अकस्मात् त्वां ईक्षते तन् तदा व्यतिमोहनाख्यं अन्योन्य मोहनाख्यं कौतुकं आस्वादनीयं भवति ॥११

श्रीभानुनन्दिन्याःवचनं श्रुत्वा कीदृश्यवस्था जातात्वांवर्णयति श्रुत्वेति श्रीगान्धर्विकायाः वचनं श्रुत्वा उत्तरीय परियन्त्रित सर्वगात्रं उत्तरीयसङ्गेन आच्छादित सर्वशरीरं रोमाञ्चितं रोमविकारयुक्त

वात सुनीहै, वह मोहिनी ही क्या तुमहो ? शङ्कर के समान किसी व्यक्ति को सहसा मोहित करने के लिए ही प्रकट हुई हो ? उसवार हर को मोहित किएथे, तुम मोहितनही हुई किन्तु सम्प्रति यदि श्रीहरि तुम्हारे प्रति कटाक्ष निक्षेप करे तो तुम भी मुग्धहो जाऊगी, इसप्रकार तुमदोनों के परस्पर मोहन से एक अपूर्व कौतूक होगा ॥११

श्रीभानुनन्दिनीके वाक्य सुनकर देवाङ्गणा वेश धारीश्रीकृष्णने रोमाञ्चित होकर अपनी उत्तरीय द्वारा अपना सर्वाङ्ग आच्छादन

वात्सल्यतः पितृपदैर्बहुमूल्यमेव
प्रस्थापितं यदखिलामयशातनाख्यम् ।
तैलं तदस्ति भवनान्तरतो विशाखे
शीघ्रं समानय तदापय सार्थकत्वम् ॥१३॥
तैलेन तेन किलमूर्त्तिमतामदीय
स्नेहेन शुभ्रुवमिमां स्वयमेव साहम् ।

तं देवाङ्गनावेशधारिणं श्रीकृष्णं राधा जगाद कथयाञ्चकार, हे सखि ! त्वं किं दैहिक दुःख दूनासि ? अथवा किं देह पीड़ा अस्ति ? तव वक्षः वक्षःस्थले अथ पृष्ठम् पृष्ठे, अथवा शिरः मस्तके व्यथा पीड़ा अस्ति । १२

अवगुण्ठनवती सन्दर्शशरीरक्लेशमनुमीय सत्वरं तदपनोदनाय प्रयतते । वात्सल्यत इति, हे विशाखे ! प्रियसखि ! पितृपदैः मदीय पितृचरणैः अखिलामयशातनाख्यम् निखिलरोगापहारकं यत् बहु मूल्यम् अनर्घम् एव तैलं पाक तैलं प्रस्थापितं प्रेषितं, तत् भवनान्तरत आगारमध्ये अस्ति वर्त्तते । तत् तैलं शीघ्रं सत्त्वरं समानय आनय एवं तस्य तैलस्य सार्थकत्वं रोगनिवारणेन आपय प्रापय च ॥१३

परिचर्य्या कौशलं तैलस्य महत्त्वंचकथयति तैलेनेति ॥ साहं भानुनन्दिनी अहं स्वयमेव मूर्त्तिमता साक्षात् स्नेह पूर्णेन इव तेनतैलेन

किया। यह देखकर श्रीराधाबोली सखि ! तुम्हारे देह कष्ट हे क्या ? तुम्हारे वक्ष, पृष्ठ, मस्तक में कुछ पीड़ा है क्या ? ॥१२

हे विशाखे ? पितृ चरणने स्नेह से सर्व व्याधि विनाशक किमती जो तेल मेरे लिए भेजाहै, वह घरमेंहै तुम सत्त्वर उसे लेआओ एव उससे इनकी शरीर पीड़ा दूरकर तेल को सार्थकबनाओ ॥१३॥

मेरे प्रति पिताजी का जो स्नेह है उसका मूर्त्तिमान रूप यह

अभ्यञ्जयाम्यखिलगात्रमपास्ततोदं
नैपुण्यतः सखि शिरोमृदुमर्दयामि ॥१४॥
नैरुज्यकारि वरसौरभवस्तुवृन्द
प्रक्षेप चारुतरकोष्णः पयोभिरेनाम् ।
संस्नापयामि विगतारुषमास्य पद्म-
मुल्लासयाम्यथ गिरापिविराजयामि ॥१५॥

इमां रोगक्लिष्टां सुभ्रु वं ललनां अभ्यञ्जयामितैलमर्दनादिकंकरोमि अखिलगात्रं सर्वाङ्गम् अपास्त तोदं अपास्त विगतः तोदः व्यथा यस्य-तत् भवतु। हे सखि विशाखे ! नैपुण्यत. कौशलेन शिरः मस्तकं मृदु यथास्यात् तथा शनैः शनैः मर्दयामि संवाहयामि ॥१४

क्लेशापहाहारकोपायान्तरमुद्भावयति नैरुज्येति। नैरुज्यकारि वर सौरभ वस्तु वृन्द प्रक्षेप चारुतर कोष्णपयोभिः नैरुज्यकारि रोग विनाशकं वरसौरभयुक्तं सर्वोत्तम सुगन्ध युक्तं यत् वस्तु वृन्दं पदार्थ समूहं तस्य प्रक्षेपेण पदार्थ समूहस्य संमिश्रणेन चारुतरैः सुखकरैः कोष्णैः स्वल्पोष्णैः पयोभिः जलैः एनां ललनां संस्नापयामि सम्यक् रूपेण स्नानंकारयामि, तेन स्नापनेन विगतरुषं अपगतक्लेशं आस्य पद्मं मुख कमलं उल्लासयामि अथ अनन्तरं गिराअपि विराजयामि, उक्तोपचारेण क्लेशापनोदनानन्तरं श्रीवदने स्मितयुक्तवचनमपि विलसतीतिभावः ॥१५॥

तेल है इसलिए मैं अपने हाथों से ही इस सुन्दरी के अङ्गमें तेलमर्दन कर दूँ और निपुणता के साथ मृदुतासे मस्तक में लगा दूँ। तव इसके अङ्ग की सव पीड़ा दूर होगी ॥१४

और रोग शान्ति कर उत्कृष्ट सौरभ युक्त सुखकर ईषत् उष्ण जल लेआओ मैं उससे इन को स्नान कराकर व्यथा दूरकरूँगी।

वाचा मया मृदुलयातिहितप्रवृत्त्या
स्नेहेन-चानुपधिना परमादृतापि ।
नो वक्ति किञ्चिदधुनेव कटूकृतास्या
तिष्ठेदियं कपटिनी यदि हन्त सख्यः ॥१६॥
अस्या रुजस्तदपरां करवै चिकित्सां
यां प्राप्य तन्वसुमनोनिखिलेन्द्रियाणाम् ।

भेदनीत्या मौन प्रशमनोपायमुद् भावयति युग्मकेन, वाचेति
हे प्रिय सख्यः; मया भानुतनया, मृदुलया वाचा सुकोमलया वाण्
अतिहित प्रवृत्त्या अतिशय मङ्गल करणेच्छया अनुपधिना अहेतु
स्नेहेनच परमादृतापि यदि किञ्चित्नो अस्मान् न वक्ति न कथयति
अपितु अधुना इव साम्प्रतं यथा तिष्ठति तद्वदेव । कटूकृतास्या अप्रस
वदनातिष्ठेत् तदा इयं कपटिनी, भवति इति जानामि । अस्यानासि
किमपि रोगं,भावगोपनं कृत्वा कापट्यं प्रकटयतीति भावः । तत् तद
अस्या रमण्याः रुजं रोगस्य अपरां भिन्नां चिकित्सां करवै, कारयामि
यान् चिकित्सान् प्राप्य तन्वसुमनोनिखिलेन्दियाणां शरीर प्राण मन

जैसे सव रोग की शान्ति होती है वैसे इसचिकित्सा से भी इनके दे
इनका मुख भी उल्लसित होगा, और हमारे साथ वार्त्तलाप करने
समर्थ होगी ॥१५

मैंने मधुर कथा कही और तैल मर्दनादि हितकर कार्य में भ
रत हुई । स्नेह के साथ परम आदर भी किया तथापि यदि ये कुछ भ
न कहकर चुपचाप वैठे रहे और मुख भी उसीप्रकार विषण्ण रहे त
समझुंगी कि–यह कपटिनी है । इनका कोई भी पीड़ा नही है
यह प्रकृत रोग गोपन कर कपटता कर रही है। जोभी हो मैं इनके
रोग की चिकित्सा अन्य कुछ करूंगी धन्वन्तरि प्राप्त दिव्य रस द्वार

व्याधिः प्रशाम्यति भवेदतिपुष्टिरेषां
धन्वन्तरिप्रहितदिव्यरसैरिवाद्धा ॥ १७॥
कुञ्जाधिराजकरकञ्जतलाभिमर्ष-
मस्याउरस्यतितरां यदि कारयामि
सेयं हसिष्यति वदिष्यति सीत्करिष्य
त्यस्मांश्चहासयितुमेष्यति काञ्चिदाभाम्॥१८

अखिलेन्द्रियाणां व्याधिः, प्रशाम्यति, धन्वन्तरि प्रहित दिव्य रसैः धन्वन्तरि प्रेषितैः दिव्यरसैः अमृतैःइव अद्धासाक्षात् एषां शरीरा दीनाम् अतिपुष्टिर्भवेत् ॥१६-१७॥

सस्फुटं स्वोत्प्रेक्षितमभिनवमुपायमाह । कुञ्जाधिराजेति ।यदि –सम्भावनायां । अस्याः कामिन्याः उरसि वक्षसि कुञ्जाधिराज कर कञ्जललाभिमर्षं श्रीकृष्णस्य कर कमल स्पर्शम् अतितराम् मुहुर्मुहु कारयामि सम्पादयामि, तदासेयं उक्तावस्थागतापि सुन्दरी हसिष्यति, वदिष्यति, सीत्करिष्यतिरतिकालीनाव्यक्त मुखशब्दं करिष्यति.अधिकं किमु वक्तव्यं कामपि शोभां प्राप्य अस्मान् अजस्रं हासयितुं काञ्चिदा भाम् शोभां एष्यति, च, तदा शोभा विलासविच्छित्ति प्रभृतीनां भृशं प्रकाशोभवेदिति भावः ॥१८

प्राण मन एवं सव इन्द्रिय ब्याधि की शान्ति होगी । विशेष कर इससे इन के शरीर की पुष्टि भी होगी ॥ १६-१७॥

कुञ्जाधिपति श्रीकृष्ण के करकमल तलका स्पर्श यदि एकवार इनके वक्षःस्थलमें उत्तमरूपसे करा दिया जाय तो जो वात करने में असमर्थ है ऐसी असाध्य व्याधि इनकीहै,तवयह तत्काल वोलउठेगी। हँसेगी, सीत्कार करेगी, अधिक क्या कहना है ? यह अधिक कान्ति धारण कर हमें अजस्र हँसावेगी ॥१८

श्रुत्वा गिरं स पिहितस्मितहास्यपद्म-
मुन्नीयरम्यतरसव्यकराङ्गुलीभिः ।
उत्सार्य्यकिञ्चिदलकानवगुण्ठनञ्च
न्यञ्चत्तरं कियदुदञ्चयति समूर्द्धणः ॥१६॥
किञ्चिज्जगाद रमणी रमणीयकण्ठ-
सौस्वर्य्यमेव रचयन् वचनं यदेषः ।

ललनाया मुनिव्रत खण्डनाय स्वोद्भावितोपायेन यादृश्यवस्था जाता तां वर्णयति । श्रुत्वेति । भानुतनयाया गिरं सुमधुरां वाणीं श्रुत्वा निशम्यस दिव्या ङ्गनावेषधारी हरिःपिहितस्मितम् आच्छादित हास्यम् न्यञ्चत्तर मधोलम्बितं आस्यपद्म वदन कमलं उन्नीय किञ्चित् उत्थाप्य रम्यतर सव्य कराङ्गुलीभिः मनोहर वामहस्ताङ्गुलीभिः अलकान् केशपाशान् किञ्चित् उत्सार्य्यं मूर्द्धणः शिरोदेशात् अवगुण्ठनञ्च मुखाच्छादनं कियत् उदञ्चयति अपसारयतिच ॥ १६ ॥

अनन्तरं यादृशी अवस्था सुन्दर्य्या जाता तामेव कथयति । किञ्चिदिति । एषः दिव्याङ्गनावेषधारी कान्तः रमणी रमणीय कण्ठ सौस्वर्य्यं रमण्याः ललनायाः रमणीयं मनोहारि यत् कण्ठस्य सौस्वर्य्यं शोभन स्वरता तत् एव रचयन् प्रकटयन् यत् किञ्चित् वचनं

श्रीभानुनन्दिनी के वाक्य से सुन्दरी के वदने में मृदु हास्य रेखा का उद्गम होने परभी उसे छिपाकर रमणीय वामहस्तकीअङ्गुलीयों से अलकावली को सम्भल कर मस्तक से अव गुण्ठन को थोड़ा हटाया ॥१६

देवाङ्गना वेष धारी कृष्ण रमणीके कण्ठ स्वर तुल्य कण्ठस्वर माधुरीद्वारा जो कुछ वचन कहे थे येसन वचनामृत को सखी गण के साथ भानुनन्दिनी जी चकोरी के समान पान कर किसी अनिर्वचनीय

सातच् चकोर ललनेव पपौ चिराय

काञ्चिच्चमत्कृतिमवाप च सालिपालिः ॥२०॥

देव्यस्मि नाकवसतिः शृणु यस्य हेतो-

स्त्वामागमं सुवदने विधुरीकृतात्मा ।

कुत्रापि मे विविदिषास्ति विवक्षितेऽर्थे

सम्पादयिष्यति परा त्वदृते कुतस्ताम् ॥२१॥

जगाद । सालिपालिः आलिवृन्दसहिता सा भानुनन्दिनी तत् वचनं चकोर ललना इवचकोर रमणी इव चिराय अनवरतं पपौ कञ्चित् आनिर्वचनीयं चमत्कृतिम् अस्वादनं अवाप च ॥ २० ।

छद्मवेशधारिणी रमणी श्रीराधां प्रत्याह । देवीति । ललना कथितवती, अयि श्रीराधे । सुवदने । नाकवसतिः त्रिदेवालये वसतिः वासः यस्याः सा अहं देवी अस्मि भवामि, स्वर्गे खलु देवतानामेव वसतिरस्ति । विधुरी कृतात्मा विधुरीकृतः विह्वलीकृतः आत्मा मनः यस्याः सा अहं यस्य हेतोः यदर्थं त्वाम् तव समीपम् आगमम् आगत वती तत् श्रृणु अवधारय । कुत्रापि विवक्षिते कथितुमिष्टे अर्थे विषये मे मम देव्याः विविदिषा विदितुमिच्छा वर्त्तते, तां ज्ञातुमिच्छा त्वदृते त्वयाविना परा अपरा का कुतःसम्पादयिष्यति का अपि सम्पादयितुं समर्था न भवेदितिभावः ॥२१॥

चमत्कार आनन्दानुभव करने लगी ॥२०॥

तब वह मनोहारिणी नवीना युवती बोली: मैं देवी हूँ, मेरा निवास स्वर्ग में है, मैं जिसलिए व्याकुल होकर तुम्हारे पास आई हूँ उसे सुनो। मेरी कुछ जानने की इच्छा है, उसे तुम्हें छोड़ कर दूसरा कौन पूर्ण कर सके ॥२१

श्रीभानुनन्दिनी बोली-सुन्दरी तुमने अपने को देवी कह कर

नेवाभ्यधास्त्वमनृतं यददेषि देवी-
त्यस्माभिरित्थ मधुनैव हि पर्य्यचेष्ठाः ।
यन्मानुषीषु कतमास्ति भवत् सदृक्षा
कान्त्यानयानुपमया त्वमिवेक्षसेत्वम् ॥२२॥
यत्त्वय्यहं सरलधो वितथं वितर्क
वैविध्यमप्यकरवं शरदम्बुजास्ये ।

तस्या वचनं निशम्य श्रीराधिका उवाच नैवेति । हे सुन्दरि ! त्वं यत् आत्मानं देव्यस्मीति द्युलोकनिवासिनी अस्मि इति यत् अभ्यधाः उक्तवती तत् कथनं अनृतं अलीकं नैव भवति, अस्माभिः अधुना एव हि इत्थं तव कथानुरूपमेव पर्य्यचेष्ठाः परिचिता । त्वमि-तिभावः । यत् यस्मात्कारणात् मानुषीषु मरणधर्मशीलेषुमध्ये कतमा भवत् सदृक्षा भवत्सदृशा अस्ति वर्त्तते, त्वम् अनया उपमा रहितया त्वमिव कान्त्या ईक्षसे ॥२२॥

सानुनयेन अपराध प्रशमनार्थं श्रीभानुतनया दैन्यं विड़म्वयति, यदिति । अयि शरदम्वुजास्ये हे शारदीय पद्मवदने । स्वाभाविक सरलधी सरलवुद्धिरहं भानुतनया, यत् प्रश्नसमये कान्तेन किं त्वमसी

जो परिचय दिया है वह मिथ्या नहीं है, कारण तुम जो देवी हो-यह हमने भी अनुभव कियाहै, कारण मनुष्य के मध्यमें तुम्हारे सदृश कौन है ? तुम्हारी यह मनोहर कान्ति को उपमा नहीं है। मैं तुम्हें तुम्हारे समान ही देखरही हूँ। २२

हे शारद कमलानने। तुम क्या पति विरहिणी हो गई हो, इत्यादि वहुविध वितर्क के साथ जो कुछ तुम्हें मैंने परिहास किया हैं, वे सवही सरल अन्तःकरणसे ही किया है। अतएव इस विषय में मेरा अपराध न समझना, जव तुम मेरे प्रति प्रीति कर रही हो तव मैं भी

तत् पर्य्यहासिषमितोऽस्तु न मेऽपराध

स्त्वं स्निह्यसीह मयि यद्यभवं त्वदीया ।।२३

किं सङ्कुचस्ययि सखी त्वममूस्त्वदीयो

देवी जनोऽप्यहमभूवमिति प्रतीहि ।

त्वत् प्रेमरूप गुण सिन्धु कणानुभूते

र्दासीभवाम्यहमपीति सदाभिमन्ये ।।२४।।

त्यादिभिः वितथं नितर्कं वैविध्यं विविध वितर्कमपि अपि अकरवं तत् पर्य्यहासिषम् । इतः एतस्मिन् विषये मे मम भानुनन्दिन्याः अपराधः न अस्तु त्वं यदि इह मयि सिह्यसि तदा अहं तदीया अभवम् ।।२३।।

श्रीभानुनन्दिन्याः दैन्य वचनं श्रुत्वा देवाङ्गनावेशधारी श्री कृष्ण उत्तरयति किमिति । स अचकथयन् अयि भानुनन्दिनि ! त्वं मम सखी अभूः मम सखीत्वेन आत्मानं समर्प्य किं सङ्कुचसि ईदृशं सङ्कोचं कथं करोषि ? आत्मपरिचयं कथयति अहं देवीजनः अपि मानुष्या समं देवीजनस्य सख्यंनभवेत, असदृशत्वात् तथापि त्वदीयः तव सखी अभुवम् इति प्रतीहि सम्यक् विश्वासं त्वं कुरु । त्वत् प्रेमरूप गुण सिन्धु कणानुभूतेः त्वदीय प्रेम रूप गुण समुद्रस्य विन्दोः अनुभवात् अहमपि देवी जनोऽपि तव मानुष्याः दासी भवामि इति सदानित्यमेव अभिमन्ये ममहृदि निरन्तर मभिलाषो वर्त्तते ।२४

अधुना स्वहृदय मञ्चुषामुद्घाट्य स्वाभिलाषं श्रीभानुनन्दिनीं

तुम्हारी होगईहूँ ।। २३

देवाङ्गना वेशधारी श्रीकृष्ण ने कहा तुम मेरी सखी होकर एतनी सकुचाती क्यों ? मैं देवी होकर भी तुम्हारी हो गई हूँ, यह निश्चित जानना । तुम्हारे प्रेम रूप गुण समुद्र का एक कण मात्रका अनुभव कर तुम्हारी दासी होने की मेरी निरन्तर इच्छा हीरहीहै ।।२४

यद् वच्म्यहं तदवधेहि यतो विषादो
दुर्वार एष तमपाकुरु संशयं मे ।
नैवाधुनापि विरराम दरापि हृद्भू
स्तापस्तदीय लपनामृत सेकतोऽपि ॥२५॥
वृन्दावने ध्वनति यः सखि कृष्णवेणु
स्तद्विक्रमः सुरपुरे प्रवलत्व मेति ।

प्रति प्रकटयति यदिति । साम्प्रतं अहं देवी यत् हृदयाभिलाषं व
कथयामि तत् हृदयवार्त्ता अवधेहि, एकाग्रतया श्रवणं कुरु ।
यस्मात् कारणात् एषः वक्ष्यमाणः दुर्वारः दुःखेनापि अपाकर्त्तुं मश
विषाद दुःखं तं विषादं मे मम देवीजनस्य संशयम् त्वं अपा कुरु
कुरु । अधुनापि सम्प्रति अपि त्वदीय लपनामृत सेकतः त्वदीय वच
मृत सेकात् अपि हृद्भूः हृदयोत्पन्नः तापः दरापि मनागपि नैव
राम विरतो नाभूत् ॥२५॥

देवीजनः स्वविषादं सम्प्रति वर्णयति वृन्दावन इति । हे प्र
सखि राधिके । यः कृष्णवेणुः भूमण्डलस्य वृन्दावने ध्वनति नि
करोति, तद्विक्रमः तस्य प्रभावः सुर पुरे स्वर्गे प्रवलत्वम् प्रवलरू
एति प्राप्नोति, यतः यस्मात्कारणात् साध्वीततेः प्रतिव्रतारमणी स

सम्प्रति मेरी मन की वात को मन लगाकर श्रवण करो ।
मन में जो दुर्निवार विषाद उत्पन्न हुआ है उसे तुम विदूरित कर
अभीतक तुम्हारे कथामृत सेवन से भी मेरा हृदय ताप स्वल्पमात्र
दूर नहीं हुआ है ॥ २५॥

हे सखि ! इस वृन्दावन में जो वेणु ध्वनि होती है उस
प्रभाव हमारे स्वर्ग पुर में प्रवेश कर इतना प्रवलहो गया है कि उस
साध्वी रमणी गणके मन पतियों के कण्ठ आलिङ्गन करना तो दूस

साध्वी ततेरपि मनः सघृणं यतोऽभूत
कण्ठोपकण्ठ मिलन स्मरणेऽपि पत्युः ॥२६॥
श्लिष्ट्वैव मुञ्चति सुरः सवितर्कमात्म
कान्तां द्रुतं ज्वलदलात निभाङ्गयष्टिम् ।
हालाहलं मुरलिका निनदामृतं यत्
पीत्वैव सातनुमहाज्वरमूर्च्छिताभूत ॥२७॥

स्यापि तदीतरस्य का वार्त्ता,मनः अन्तरिन्द्रियं पत्युः स्वामिनःकण्ठोप कण्ठ मिलन स्मरणेऽपि ताः सम्प्रति स्व स्व पतिं नालिङ्गितवत्यः वेणुध्वनिश्रवणात् पूर्वं यदालिङ्गनं कृतं तदपि कार्यं स्मृत्वा सघृणम् अभूत् तासांमनः तत् कार्य्यं प्रति घृणामनु भवतीति भावः ॥२६॥

सा वदति इत्यधिकं किं वच्मि, श्लिष्टेति, यत् हालाहलं विष संपृक्तं मुरलिकानिनदामृतं वेणु रवामृतं पीत्वा एव श्रुत्वेव सा सुराङ्गना अतनु महाज्वर मूर्च्छिता कामज्वर जर्जरिता अभूत् । अपि देवगणः अपि ज्वलदलातनिभाङ्गयष्टिं ज्वलदङ्गारसदृशोत्तप्त मात्राम् आत्मकान्तां निज निज प्रेयसीं श्लिष्ट्वा आलिङ्ग्य एव सवितर्कं यथा स्यात् तथा द्रुतं मुञ्चति त्यजति ॥२७॥

वात पहले जो कण्ठ आलिङ्गनकर चूके थे उसका भी स्मरण कर मन घृणा से भरजाते हैं ॥ २६

अधिक और क्या कहें– उस हलाहल मिश्रित अमृत के समान वेणु ध्वनि कर्ण में प्रविष्ट होने से ही देवाङ्गनागण इस प्रकार अतनु-महा-ज्वरसे मुग्ध हो जाती हैं, कि उनके शरीर ज्वलन्त अङ्गार सदृश उत्तप्तहो जाते हैं, यह देखकर उनके पति गण 'हाय' ! अकस्मात् यह क्या हुआ " इस प्रकार वितर्क कर जल्दी से जल्दी उनसव को छोड़ देते हैं ॥२७॥

अस्मत् पुरेऽस्ति नहि कापि जरत्यतःका
स्तर्ज्जन्तु का नु निखिला अपि तुल्यधर्माः ।
का वा हसेयुरपरा यदिमाः सतीत्वं
विप्लावयन् मुरलिकानिनदोव्यजेष्ट ॥२८
एवं यदि प्रववृते प्रतिवासरं स
वेणु ध्वनिः प्रभवितुं विबुधाङ्गनासु ।

सोत्सुक्येन सा पुनरपि कथयति हे सखि ! अपरञ्च शृणुअस्म दिति। अस्मात् पुरे स्वर्गलोकेनहि कापि जरतीवृद्धा अस्ति, तत्र काल धर्म प्रभावाभावात्सर्वे तरुणवयसि स्थिताः सन्ति, अतःवैषम्या भावात् काः काः नु वितर्के तर्ज्जन्तु आत्मीयत्वेनसर्वे वर्त्तन्ते अतः तिरस्कारस्य वार्त्ता अपि तत्रनास्ति, अपितु निखिलाः सर्वाः अपितुल्य धर्माः समान चित्तवृत्तयः वर्त्तन्ते अपराः काःवा हसेयुः,यत् यस्माद्धेतोः अवसरं प्राप्य मुरलिका निनदः वंशीध्वनिःसतीत्वं पातिव्रत्यं विप्लावयन् विचूर्णयन् इमाः सुराङ्गनाः सुरसुन्दर्य्य व्यजेष्ट।

मुरलीनिनदस्य अनुसन्धित्सा कदाजाता तस्या विवरणं कथयति एवमिति। एवं पूर्वोक्त प्रकारेण प्रतिवासरं प्रति दिवसं स वेणुनादः विबुधाङ्गनासु देवपत्नीषु प्रभवितुं स्वप्रभाव विस्तारयितुं

सखि और भी सुनो हमारे स्वर्ग पुरमें कोई भी वृद्धा नहीं है, सब ही तरुणी है, अतएव कौन किसको तर्ज्जन करें ? वेणुध्वनिश्रवण के साथ ही सब की एकदशा हो जाती है। सुतरां कोई किसी को परिहास कर नहीं सकती। कारण मुरली ध्वनि सतीयों के सतीत्वधर्म प्रवाहित कर सुररमणी गण के उत्तर विजयपाई है ॥२८॥
जब इस प्रकार प्रतिदिन ही वंशी ध्वनि देवाङ्गनागण के उपरप्रभाव प्रकाश करने लगी तो एकदिन मैंने मनही मन विचार करने लगी

तर्ह्येकदा हृदि मयैव विचारितं हा
कोऽयं कुतश्चरति वादयितास्य कोवा ॥२६॥
इत्थं दिवः समवतीर्य्य भुवीह साधु
वंशी वटेऽ वसमहं कतिचिद्दिनानि ।
दृष्टो हरेरनुपमो विविधो विलासः
कान्तागणः प्रियसखाल्यपि पर्य्यचायि ॥३०॥

प्रवृत्तो ऽस्ति, तर्हि तस्मिन्नेवावसरे एकदा एकस्मिन् दिने मया एव स्वयमेव नतु अन्येन समं आलोच्य हृदि मनसि विचारितं चिन्तितं, हा अयं कः ? कस्य ध्वनिरियं ? कुतः चरति ? कस्मात् स्थानात् प्रसरति ? अस्य वादयिता वादनकर्त्ता वा कः ? इति ॥२६॥

अनन्तरं तदनुसन्धानार्थं पृथिव्यामागमन प्रकारमाह इत्थमिति अनन्तरं इत्थं अनेन प्रकारेण चिन्तयित्वा दिवः देवलोकात् समवतीर्य्य पृथिव्यां अवतीर्य्य अहम् देवाङ्गना,इह भुवि अस्यामेव पृथिव्यां वंशी वटे वंशीवटाख्यनामकस्थाने कतिचित् दिनानि चतुःपञ्च दिवसानि साधु यथा स्यात् तथा सुखपूर्वकमेव देवलोक निवासिनः क्षुधापिपासादिकं नास्तीत्यतः सुखेन अवस्थानं जातं । अवसम् निवासं कृतवती एवं हरेः परम मनोहरस्य अनुपमः उपमा रहितः विविधः अनेकप्रकारः विलासः व्यवहार.दृष्टः अवलोकितः । कान्तागणः प्रेयस्यः प्रियसखाली प्रियसखिवृन्देन समं अपि पर्यचायि परिचितवती ॥३०॥

हाय ! यह ध्वनि किस की है ? कहाँसे आरही है ? इसका वादक कौन है ? ॥२६॥

अनन्तर मैं उस वंशी ध्वनि का अनुसरण करते हुए स्वर्ग से पृथिवीमें आकर कई दिन तक वंशी वट में आनन्द से रही एवं तुम्हारे साथ श्रीहरिकाअनुपम विविध विलास भी देखा,तदीय कान्तागण एवं

राधा सनर्म्मं मधुराक्षरमाह धन्ये
त्वं गण्यसेसुरपुरे वरचातुरीभाक् ।
अन्या पुन र्बलवदुत्कलिका कृपाणी
कृत्तन्द्रियैव सुमनस्त्वमपादपार्थम् ॥३१॥
मन्द भ्रमद्भ्रु मधुरस्मितकान्तिधारा
धौते विधाय रदनच्छदने स चाह ।

देवीजनस्य वचनं श्रुत्वा भानुतनया यद्वचनं कथितवती तत् प्रकारमाह राधेति तस्यावचनं श्रवणानन्तरं राधा सनर्म्ममधुराक्षरं कौतुक पूर्णानुकूलवचनं यथास्यात्तथा आह, धन्ये सौभाग्यवति । सुर पुरे स्वर्ल्लोके त्वमेव वरचातुरीभाक् श्रेष्ठ कौशलवती इति गण्यसे, गुण ग्रहणशीलताया मूर्द्धायमाणा भवसीतिभावः । अन्या अपरा पुनः त्वामन्तरा अन्या न सौभाग्यवती, यतस्ताः बलवदुत् कलिका कृपाणी कृत्तेन्द्रिया बलवती या उत्कलिका उत्कण्ठा साएव कृपाणी अस्त्रविशेषः तया कृत्तानि छिन्नानि इन्द्रियाणि यस्याः सा एव सुमनस्त्वम् देवतात्वं अपार्थं व्यर्थं अपात् धृतवती ॥३१॥

श्रीराधिकाया मधुरपरिहासमयवचनश्रवणानन्तरं सा कृष्ण ललना येन प्रकारेण प्रत्युत्तरं दत्तवती तत् प्रकारमाह मन्देति । सः

सखा के साथ भी मेरा परिचय हो चुका है ॥३०॥

उक्त कथन श्रवणानन्तर श्रीराधा परिहास युक्त सुमधुरवाणी से बोली–अयि धन्ये ! सुर पुरी मध्यमें तुमही उत्कृष्ट चतुरा हो । तुम्हें विना और, कोई भी सुर ललना चतुरा नहीं है, कारण वेसव बलवती उत्कण्ठारूपा खड्‌ग के द्वारा छिन्न चित्त होकर भी अनर्थक सुमना नाम धारण करती हैं ।३१

श्रीभानुनन्दिनी जीके मधुर परिहास वाक्य श्रवणानन्तर मन्द

राधे परां स्वसदृशीं नहि विद्धि किं भोः
शक्येऽवलोकयितुमपीह परेण पुंसा ॥३२॥
किंवा परेण पुरुषेण हरेर्विलास
मेवान्वभू रहसि साधु यदर्थमागाः ।
तद् ब्रूहि किं तव विवक्षितमत्र मध्ये
नर्म्मातनोमि यदि मामकरोः सखीं स्वाम् ॥३३

छद्म ललनावेष विभूषितःश्रीकृष्णःरदनच्छदनेओष्ठाधरौ मधुर । स्मित कान्ति धारा धौते मधुरं मनोहरं स्मितं हास्यं तस्य हास्यस्य कान्तिः शोभा तस्याः धारा अविरल प्रवाहरूपाः ताभिः धौते विधाय स्नापितं कृत्वा मन्द भ्रमद्भ्रु स्वल्प चञ्चलभ्रु यथास्यात्तथा आह, प्रथमं मधुरं सम्बोधनं कृतंभोःराधे । परां अपरां ललनां स्वसदृशीं निजतुल्यां नहि विद्धि न जानीहि । सर्वत्रस्वतुल्य मननं न शोभनं । अहं किम इह अत्र भुवि परेणपुंसा । परपुरुषेण अवलोकयितुम् अपि शक्ये, अहं प्रतिव्रता, परपुरुषस्य मद्दर्शन सामर्थ्यनास्तीति भावः ३२

तस्योक्ति श्रवणानन्तरं श्रीराधा प्राह किंवेति । त्वं देवाङ्गना अपि अत्र भूर्लोके यदर्थम् यस्य प्रयोजनाय आगा आगतवती त्वं हरेः परम मनोहरस्य विलासम् विविधां क्रीड़ां एवं रहसि एकान्ते साधु यथास्यात् तथा उत्तमरूपेण अन्वभूः अनुभूतवती, अतः हेतोः परेण

मन्द भ्रू नर्त्तन के साथ मधुर हास्य कान्ति द्वारा अपने अधर औष्ठ को रञ्जित करती हुई ललना वोली–राधे ! दुसरे को भी अपना समान न जानो । यहाँपरपरपुरुष क्या कभी मुझे दर्शन करने में समर्थ है ?

पश्चात् राधिका वोली–तुम जिसलिए यहाँपर आई हो उस हरिके विलास को एकान्त में अनुभव करने से तुम्हें और पर पुरुष से प्रयोजन ही क्या है ? अवतुम कहो ! मेरे पास तुम्हारे जिज्ञास्य

नर्म्मातनुष्व सखि नर्म्मणि का जयेत्तां
प्राणा स्त्वभूस्त्वमयि मे कियदेव सख्यम् ।
त्वं मानुषी भवसि किन्त्वममराङ्गणास्ता
मूद्ध्णैंव ते गुण कथा पुणतीर्नमन्ति ।।३४
नेयं स्तुति स्तव न चापि तटस्थता मे
नापि ह्रियं भज वदाभ्यनृतं न किञ्चित् ।

पुरुषेण वा किम् प्रयोजनमस्ति अत्र मदुक्त विषये मत्सविधे च तव किं विवक्षितं जिज्ञास्यमस्ति तत् ब्रूहि कथय । एतावता यत् यस्मात् इमां राधां स्वां सखीं निजसखी वाक्योपन्यासेन अकरोः कृतवती तत् तस्मादेव कारणात्अहं कथोपकथनमध्ये नर्म्म कौतुकंवाक्यं आतनोमि करोमि ।।३३।।

तदुत्तरे दिव्याङ्गनावेषविभूषितः श्रीकृष्णः प्राह हे सखि राधे नर्म्म परिहासं आतनुष्व विस्तारय । नर्म्मणि परिहासे का रमणी त्वां भानुतनयां,-जयेत्, जेतुं शक्नुयात् । पुनरपि सोत्साहं सम्बोधयति अयि राधे ! त्वया यदुक्तं सख्यं तत्तु कियदेव अस्य किमपि महत्त्व नास्ति, अपितु-त्वं मे मम स्वर्ल्ललनायाः प्राणाः जीवातुः अभुः त्वं मानुषी भवसि मनुष्यलोके तिष्ठसि, किन्तु ताः सर्वाः अमराङ्गणाः पुणतीः स्वात्मानं पवित्राः कुर्वतीः ते तव गुणकथा मूद्ध्र्णा एवअत्या दरेण नमन्ति ।।३४।।

क्या है ? अभी तक जो मैंने तुम्हारे साथ परिहासादिकिया है, वह केवल तुमने मुझे अपनी सखी मान लिया है इसलिए ।।३३।।

देवाङ्गना वेशधारी श्री कृष्णने कहा सखि ! तुम परिहास करो तुम्हारी वरावरी कौन कर सकताहै । अयि राधे ! तुम्हारे साथ मेरा सख्य है; यह और अधिक क्या है ? तुमजो मेरे प्राण के समानहो तुम मानुषी हो, किन्तु देवाङ्गनागण पवित्र होने के लिए तुम्हारी गुण

सिन्धोः सुतापि गिरिजापि न ते तुलायां
सौन्दर्य्य सौभगगुणैरधिरोढ़ुमीष्टे ।३५।
प्रेम्ना पुनस्त्रिजगदूर्द्ध पदेऽपि काचित्
त्वत्साम्यसाहसधुरं मनसापि वोढ़ुम् ।

सतु छद्मवेशी कृष्णः सव्याजं श्रीराधां प्रत्याह नेयमिति । हे सखि राधे ! इयं मदुक्तिः, तव स्तुस्तिः अतिशयोक्तिर्न भवति । अतः कारणात्ह्रियं लज्जां न भज न कुरु । न चापिमे मम तटस्थता उदासीनता अस्ति; किञ्चिदपि विन्दुमात्रं अपि अनृतं मित्थ्यां न वदामि ।, सिन्धु सुतापि लक्ष्मीः गिरिजापि श्रीदुर्गा सती अपि सौन्दर्य्य सौभगगुणैः ते तव तुलायां । समानतां अधिरोढुं न ईष्टे न समर्थाभवति ।।३५।।

छद्मवेशी कृष्णःपुनराह प्रेम्नेति । पुनःकथयामि पूर्वोक्त कथनेन तव सौभाग्यस्य सम्यक् निर्णयं न जातं अपितु त्रिजगदुर्द्धपदेऽपि त्रिपादविभूत्याम् वैकुण्ठलोकेऽपि काचित्रमणी प्रेम्ना प्रियममतया त्वत् साम्यसाहसधुरं तवसमानतायाः साहसभरं तव समानतां वाञ्छितुं मनसापि समर्था न भवेत् वोढ़ुं वहनंकर्त्तुं अभिलाषं कर्त्तुं न शक्नोति समर्था न भवति । तत् तस्मात् हेतोः तव प्रेमवर्णनम् न केवलं मयाकृतं

कथा को सब के सब नतमस्तक से प्रणाम करतीं हैं ।।३४।।

हे सखि ! मैं तुम्हें स्तुतिकर नहीं कहती हूँ अतएव तुम लज्जिता न हो ! तुम्हारेप्रति मेरी उसासीनता नहीं है, में कभी भी मित्थ्या नहीं कह सकती हूँ । सिन्धु सुता एवं गिरिजा भी सौभाग्य गुण से तुम्हारे समान नहीं है, तुम इस प्रकार सुन्दरी तथा सौभाग्यवती हो।।

और भी मैं कहती हूँ । वैकुण्ठादि लोंकमें भी कोई स्त्री तुम्हारे समान प्रेमवती होने की वात तो दूरहै होने का साहस भी कोई नही कर सकती हैं, यह जो केवल मैं कह रही हूँ यह नही है कैलास शिखर मैं हैमवती की सभा में तुम्हारे ये सब गुण वर्णना मैंने

शक्नोतिनेत्यखिलमेव मया श्रुतं तत्
कैलास शृङ्गमनु हैमवती समायाम् ॥३६॥
श्रुत्वा महानजनि मे मनसोऽभिलाष
स्तद्दर्शनाय समपूरि स चापि किन्तु ।
ता स्तदन्तरिह यो रभसाददीपि
तेनास्फुटन्न कठिनो हि ममान्तरात्मा ॥३७॥

अपितु प्रेम वर्णनम् अखिलम् परिपूर्णरूपेण एव मया कैलास शृङ्गमनु
कैलास शिखरे रम्ये हैमवती हिमालय कन्यायाः सभायां श्रुतमिति
अत एव मदुक्तं अतीव प्रामाणिकमिति भाव ॥ ३६ ॥

पुनरपि स्वहृदयमणिमञ्जुषामुदघाट्य स्वाभिलाषं वर्णयति
श्रुत्वेति । तव गुण गणान् श्रुत्वा च निशम्य अनन्तरं त्वद्दर्शनाय तव
साक्षात् अवलोकनाय मे मम देवी जनस्य मनसः अन्तःकरणस्य महान्
अत्युत्कटः अभिलाषः आन्तरिकेच्छा अजनि जातः, सः महान् अभि
लाषः अपि त्वां साक्षान् नयनद्वयेन निभाल्य समपूरि परिपूर्णोऽभवत्
आदौ तव गुण श्रवणं पश्चात् गुणानुरूपमेव सौम्यवपुः दर्शनेन कर्ण
नयनयो विवादः शान्तोऽभून् । एतावता मनसि शान्तिः सत्त्वेऽपि
किन्तु तदन्तः तव सौम्यवपु दर्शनानन्तरमेवइह मयि ताप विहीने देवी
जने यः तापः क्लेशः रभसात् अकस्मात् वेगात् अदीपि दीप्तः, तेनप्रवर्ध
तमेनतापेन मम अन्तरात्मा न अस्फुटत् विदीर्णो नाभूत् अस्यकारण
मेव यतः यस्मात् कारणात्मम आत्मा कठिनःवज्रतुल्योहि एवम् ॥३

सुनी है ॥३६॥

तुम्हारे गुणों की कथा सुनकर तुम्हें देखने की बड़ी इच्छाहुई
तुम्हें देखकर वह अभिलाष पुरी होगईहै, किन्तु उसके वाद मेरे अन्तः
करण में अतिशय ताप प्रज्ज्वलित हुई। जिससे मेरी अन्तरात्मा

कोऽसौ तमाशु कथयेति मुहुस्तयोक्तो
वक्तुं शशाक न स वाष्पनिरुद्धकण्ठः ।
अश्रुप्लुतेक्षणमथास्य मुखं स्वयं सा
स्वेनाञ्चलेन मृदुलेन ममार्ज्जराधा ॥३८॥
स्थित्वा क्षणं धृतिमधादथ तामुवाच
प्रेमा तवायमतुलोऽनुपधिर्वलीयान् ।

एतावता दुःसह तीव्र वेदानायावार्त्तां श्रुत्वा प्रेमवती सा राधा उवाच क इति । तदुक्तः असौ तापः कः तम् आशु कथय इति, कीदृश स्तापस्तव वर्त्तते सत्वरं ममसविधे संतापं प्रकटय्य कथय । ईदृशं वचनं तया पुनः पुनः मुहुः राधयाउक्तं, तस्या वचनं च्छ्रुत्वा देवाङ्गना वेश धारी श्रीकृष्णः वाष्प निरुद्धकण्ठः गदगदायमान कण्ठः जातः, अतः कण्ठावरोध कारणात् वक्तुं उत्तरं दातुं न शशाक न समर्थोऽभूत् । अथ ईदृश्यवस्थादर्शनानन्तरं अश्रुप्लुतेक्षणं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं तस्य मुखं सा करुणामयी राधा स्वयं नतु सखीद्वारेण स्वेन अञ्चलेन नतु अङ्गमार्ज्जनीयवस्त्रान्तरेण ममार्ज्ज, नयनजलमपसारितवती ॥२८॥

विदीर्न होने की रही किन्तु वह अति कठोर होने के कारण विदीर्ण नहीं हुई ॥३७॥

इस प्रकार दुःसह वेदना की कथा सुन कर प्रेमवती राधिका बोलीः–सखि ! तुम्हारे दुःसह तीव्र ताप कैसा है । शीघ्र मुझे कहो ! श्रीराधिका पुनः पुनः ऐसा कहने पर भी उनका कण्ठ रुद्ध हो जानेके कारण बात करने की शक्ति न रही अतएव वे कुछभी न कह सकी । नयन जल से उनका वदन कमल सिक्त होनेलगा । यह देखकर श्री राधिका स्वयं निज वसनाञ्चल द्वारा धीरे धीरे नयन एवं वदन पोंछने लगी ॥३८॥

कृष्णेति कामिनि वभुव कथं दुनोति
स्वां स्वांश्च विश्वसिति योऽल्पपदेऽप्यभिज्ञः ॥३९
सौन्दर्य्य शौर्य्य वरसौभगकीर्त्तिलक्ष्मी
पूर्णोऽपि सर्वगुणरत्नविभूषितोऽपि ।

तदनन्तरं यादृशः अभिनयो जात स्तवं वर्णयति स्थित्त्वेति । सा कमलनयनललना क्षणं राधा वसनाञ्चलस्पर्शात् स्वल्प कालं स्थित्वा पश्चात् धृतिं धैर्य्यम् अगात् प्राप्तवती अनन्तरं कण्ठरोधावस्था या अपसारणेन अथ तां सकरुणहृदयां राधां उवाच, कथितवती । हे मुग्धे । सरले । अतिकामिनि निर्मर्याद कामुके कृष्णे सर्वाकर्षके चञ्चले तव भानुतनयायाः अयम् ईदृशः अतुलः अनुपमः अनुपधिः स्वाभाविकः बलीयान् प्रौढ़ः प्रेमा असमोर्द्धममत्वं कथं केन प्रकारेण कारणाभावात् कथं कार्यस्य सम्भवः वभुव जातः ? अस्य परिणामं सक्रिय दृष्टान्तेन दर्शयति । यः कोऽपि अभिज्ञः सर्वतः प्रकारेण ज्ञानवान् जनः अपि किमुतः अनभिज्ञोजनः अल्पपदे अननुरूपपात्रे विश्वसिति विश्वासं करोति सः अभिज्ञो जनः अनभिज्ञस्यतु का वार्त्ता निजं आत्मानं स्वान् स्वस्यआत्मीयांश्च परिजनान्दुनोति दुःखाकरोति ।३९

श्रीकृष्णस्य दोषं पुनः कथयति सौन्दर्य्येति । असौ सर्वानुभुतः सर्वप्रसिद्धश्च श्रीकृष्णः सौन्दर्य्यवरसौभग कीर्त्तिलक्ष्मी पूर्णः सौन्दर्य्य

तव देवी क्षणकाल इस अवस्था में रहकर धैर्य्य के साथ श्री राधिका के प्रति कहने लगी, मुग्धे ! अतिशय कामुक कृष्ण के प्रति तुम्हारे यह अनुपम, अकैतव एवं बलीयान प्रेमकैसे हुआ ? तुमने जान सुनकर ऐसा अविश्वासी एवं अयोग्य व्यक्ति को विश्वास कर अपने को एवं अपने जन को दुःखी किया है ॥३९॥

कृष्ण सौन्दर्य्य, शौर्य्य, अनुपमसौभाग्य एवं कीर्त्ति सम्पत्ति से परिपूर्ण एवं सर्वगुण रत्नसे विभूषित होने परभी उनमें एकही दोष

प्रेमाविवेचकतमत्वमसौ विभर्त्ति
कामित्व हेतुकमसौ श्रयितुं न योग्यः ॥४०॥
तस्मिन् दिने बहु विलस्य मुहुःप्रकाश्य ।
प्रेमा त्वया सरभसं रजनौ तु कुञ्जे ।
सङ्केतगामृजुधियं भवतीं विधाय
काञ्चित् परां स रमयन्कपटी जहौ त्वाम् ॥४१

न्दरता प्रति अङ्गानां अनुपमत्वेन वर्त्तते, शौर्य्य वीरत्वं असमोर्द्ध र्त्तते; वर सोभगं सर्वोत्तम सौभाग्यं कीर्त्तिः सर्वदा जनहितकर कार्य रणेन ख्यातिः यशः एव लक्ष्मीः शोभा सम्पत्तिः, तया पूर्णःपरि पूर्णो पि सर्व गुण रत्न विभूषितोऽपि निखिलगुणरत्नालङ्कृतोऽपि कामित्व तुकं कामुकतया यस्य श्रीकृष्णस्य तथाभूतं दोषरूपं प्रेमाविवेचकत त्वं प्रेम्नि अविवेचकतमत्वं विचारहीनत्वं विभर्त्ति धारयति । अतः सौ श्रीकृष्णाश्रयितुं अवलम्बयितुं न योग्यः भवति ॥४०॥

अग्रिमसप्तश्लोकेन श्रीकृष्णदोषानुट्टङ्कयति तस्मिन्निति; दृष्टान्तंवदति पश्य ! तस्मिन्दिने तत्रदिवसि त्वया समं बहु विलस्य अनेन बहु विधविलासं कृत्वा मुहुः पुनः सरभसं औत्सुक्येन समं त्वयि कृत्रिमंप्रेमप्रकाश्य रजनौरात्रौतु कुञ्जे लतादि पिहित स्थाने ऋजु-धियं अकपटमतिं भवतीं सङ्केतगां सङ्केतस्थलाय अभिसारिणीं विधाय कृत्वा स कपटी छलपरायणः 'मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् इति

है जिससे समस्त गुण महत्त्व चला जाता है। उस दोष का नाम है "प्रेमाविवेचकतमत्त्व" अर्थात् प्रेम की विवेचनामें अतिशय असामर्थ्य। अतिशय कामी होने पर यह दोष होता है, अतएव ऐसे व्यक्तिसे प्रेम करना तुम्हें उचित नहीं है ॥ ४० ॥

उस दिन कृष्ण दिन में तुम्हारे साथ अनेक प्रकार विलास कर

यत्त्वं तदा व्यलप एव सखी स्तुदन्ती
वल्लीः पतत्रि विततीरपि रोदयन्ती ।
सर्वं तदालिनिभृतं मयकान्यभाले
वंशीवट स्थिततया वलिता रुषैव ॥४२

रासे तथैव विहरन्नपरा विहाय
प्रेम त्वयैव सहसा प्रकटीचकार

रीत्या काञ्चित् अनिश्चितां रमणीं परां अन्यां रमयन् रमयितुं त्वं जहौ त्वां परित्यक्तवान् । त्वया सममहर्निशं रमणेनापि तस्य मनसि अन्यरमणिविलासाकाङ्क्षासदैव वर्त्तते ॥४१॥

अन्यांघटनां स्मारयन् वदति, यदिति । हे आलि । हे सखि त्वं भानुतनया, तदा तस्मिन् समये, सखीः ललिता प्रमखाः सखी तुदन्तीं पीड़यन्ती वल्लीः लता समूहान् पतत्री विततीः पक्षी सकला अपि रोदयन्ती सती यत् व्यलपः त्वं विलापं कृतवती एव तत् सव पूर्वोक्त रूपं वलितारुषावलवता । मर्मपीड़या एव मयका मया वंशीवट स्थिततया निभृतं रहसि न्यभालि अवलोकितम् ॥४२॥

विपरीत् दृष्टान्तेन आह रास इति । तथैव यथा त्वां विहाय

उत्सुकता के साथ तुम्हारे प्रति मुहुर्मुहुः कृत्तिम प्रेमप्रकट किया था, तुम सरलमति होने के कारण तुम्हें रजनी में सङ्केत स्थलमें अभि-सार भी कराया । पीछे कपटी कृष्ण अन्य किसी रमणी के साथ रमण करने के लिए तुम्हें छोड़ कर चले गये थे ॥४१ ॥

उस समय तुम विलाप कररही थी, विलाप सुन कर तुम्हारी सखीगण, लता, पक्षिगण भी, दुःखित होकर रोदन कर रहे थे, मैं वंशीवट में छिप कर वह सब देखकर मनमें अतिशय व्यथापाई ॥४२॥

उस प्रकार रासमें विहार करते करते अपर गोपाङ्गना गण

स्थित्वाक्षणं स भवती मनुचद्वनान्त
रेकाकिनीं रतिभरश्रमखिन्नगात्रीम् ॥४३
र्तार्ह प्लुतं विलपितं गहना च मूर्च्छा
चेष्टाप्यतिश्रममयी तव यद्यदासीत् ॥
व्याप्यैव हा बहुजनूंषि हृदि स्थितं मे
तत् कष्टमष्टविधयैव तनोः प्रकृत्या ॥४४॥

अपरां गच्छति, तथैव प्रकारेण अपरां विहाय त्वामेवानुसरति, रासे बहुभिर्नर्त्तकीभि मिलित्वा नृत्यावसरे त्वया सह विहरन् रमयन् सहसा अतर्कितेन अपराः गोपीः विहाय त्यक्त्वा त्वयि प्रेम प्रकटी चकार। क्षणं स्थित्वा अव्यवस्थितचित्तः एव सः श्रीकृष्णः रतिभर श्रमखिन्न गात्रीं रति प्राचुर्येण श्रमेण खिन्नं क्लान्तं गात्रं यस्याः सा तां भवतीं राधां एकाकिनीं सखी जनरहितां वनान्तः अरण्यमध्ये अमुचत् मुमोच, त्यक्तवान् कृष्णः निष्करुण एव ॥४३॥

तदा तस्याः यादृश्यवस्था जातातां साभिनयेन वर्णयति, तर्हीति तर्हि तदा श्रीकृष्णे त्वां त्यक्त्वा गतवति तव प्लुतम् त्रिमात्रत्वेन उच्चारितं अत्युर्ध विलपितं सशब्दरोदनं गहना निविड़ा मूर्च्छा संज्ञा लोपावस्था अतिश्रममयी अतिशय श्रम पूर्णा चेष्टा शरीर क्रिया जाता किमुतमानसिकी क्रिया इति यत् यत् आसीत् तत् कष्टं दुःखं मे मम

को छोड़कर तुम्हारे प्रति प्रेम प्रकट किये। क्षण काल तुम्हारे साथ रहकर विलास श्रमसे तुम अतिशय थक जाने परभी सहसा अकेली तुम्हें वन में छोड़कर भाग गयेथे ॥४३॥

तव तुम्हारे उच्च विलाप घन घन मूर्च्छा अतिशय श्रममयी चेष्टा इत्यादि जो दशा तुम्हारी हुई थी, वह दशा अनेक जन्म तकमेरे हृदय में अङ्कितरहेगी जन्मावधि मृत्यु पर्य्यन्त शरीर की जो आठ

देवी जनोऽस्मि हृदि मेऽवनु कष्टमासीत्
दैवाद् यशस्विनि वभूव भवद्दिदृक्षा ।
सामागमय्य वत साकृत कीलविद्धां
यस्यास्ति नैव सखि निर्गमनेऽप्युपायः ॥४५
सन्दानितं त्वयि मनो न दिवं प्रयातु
स्थातुञ्च नात्र तिलमात्रमपीत्थमीष्टे ।

हृदि हृदये अष्टविधया जन्म मृत्यु ज्वरा व्याधि शोक मोह प्रकार
तनोः शरीरस्य प्रकृत्या निसर्गेण सहैव वहुजनूंषि अनेक जन्मा
व्याप्यव पर्य्यन्तं सदैव स्थितम् ॥४४॥

स्वान्तः क्लेशं सनिदर्शनं वर्णयति देवीति । हे यशस्विनि हे य
पूर्णे ! अहं देवीजनः अस्मि, स्वर्ल्लोक निवासिनः मम क्वनु क
आसीत् दुःखमात्रं स्वर्ल्लोकं न स्पृशति अतः कुतः दुःखाशङ्का कि
अकस्मादेव हे सखि ! दैवात् अदृष्टवशात् मम देवीजनस्यापि भव
दिदृक्षा भवताम् दर्शनेच्छा वभूव जाता, अयमेव वत खेदस्य विषय
सा दर्शनेच्छा आगमय्य सहसा मनसि आविर्भूय मां देवीजनम
कीलविद्धां शङ्कुविद्धाम् अकृत ।यस्य कीलस्यनिर्गमनेऽपि वहिर्गमन
षयेऽपि उपायः साधनं नास्त्येव ॥४५ ॥

चरमंमनोभींष्टं प्रकटयति सन्दानितमिति । त्वयि यशस्विनी

अवस्थाएँ हैं उसकी किसी अवस्था में भी उस दुःख को भूल
सकूँगी ॥४४॥

मैं देवी हूँ ! हे यशस्विनी ! मेरे हृदय में कभी भी कष्ट न थ
किन्तु हाय ! हठात् तुम्हें देखनेकेलिए आकर ही मेरे हृदय में की
गड़ गया है: हे सखि ! वह कील सम्प्रति निकाल ने का और को
उपाय नहीं है ॥४५॥

सखि ! तुम्हें और एक वात मैं कहूँ । तुम्हारे प्रति मेरा म

उद्घूर्णते प्रतिपदं न पदं लभेत

अद्याभवम् त्वयि चिरात्प्रकटी कृतात्मा ॥४६

कृष्णात् पुन र्बहुबिभेमि न धर्म लोक

लज्जेदयाध्वनि कदापि न पान्थतास्य ।

राधायाम् सन्दानितं आवद्ध देवीजनस्य मम मनः न दिवं स्वर्ल्लोकं प्रयातुं गन्तुं न चात्र अथवा भवत्याः सविधे तिलमात्र मपि अत्यल्प कालं अपि इत्थं अनेन प्रकारेण स्थातुं अवस्थातुं इष्टे समर्था न भवामि । अपितु प्रतिपदं प्रतिक्षणं उद्घूर्णते मनसि चञ्चलता वर्द्धते पदं न लभते, अचलस्वनं न प्राप्नोति । अस्मात् कारणात् चिरात् वहु कालादनन्तरं अद्य साम्प्रतं त्वयि भवत्याम् प्रकटी कृतात्मा आत्म प्रकाशं कृतवती ॥ ४६॥

पुनरपि स्वान्तस्थां विभीषिकां कथयति कृष्णादिति । कृष्णात् तव कान्तात् पुनः भूयः वहु विभेमि सदा अपर्य्याप्तं भयंकरोमि, भयस्य कारणं तावदिदमेव, अस्य कृष्णस्य धर्मलोक लज्जे सामाजिक रीति नीतिः, लज्जा च ते उभे अपि न वर्त्तेते, दयाध्वनिकरुणामार्गे कदापि कस्मिन्नपि काले पान्थता च न अस्ति ! पदार्पणं अपि न कृत वान् । सोदाहरणं उक्तार्थं द्रढ़यति । यः प्रसिद्धः तव मनोमोहनः श्री

ऐसा आवद्ध होगया है कि स्वर्ग को जाने के लिए भी मेरी इच्छा नही हो रही है, और यहाँ पर तिलमात्र समय भी रहने की शक्ति नहीं हो रही है । मेरा मन पग पग पर उद् घूर्णा युक्त होकर किसी तरह धैर्य्य धारण करने में असमर्थ है । इसलिए मैं आज अनेक दिनों के वाद तुम्हारे पास आकर मनकी वात को प्रकट किया ॥४६॥

मैं कृष्ण से डर गई हूँ । कारण उनमें धर्म एवं लोक लज्जाका अत्यन्त अभाव है, विशेष कृष्ण कभी दया के पथ में पदार्पण किया है,

वाल्ये स्त्रियास्तरुणिमन्य चिराद्वृषस्य
वत्सस्य मध्यमनु यो व्यधितैव हिंसाम् ।।४७
गान्धर्विकाह सुभगे त्वयि कापिशक्ति
रार्कषिणी किल हराविव सन्ततास्ति ।
यन्निन्दसि प्रियतमं तदपि प्रकामं
मच्चित्तमात्मनि करोष्यनुरक्तमेव ।।४८।।

कृष्णः वाल्येप्रथमे वयसि स्त्रियाः पुतनायाः तरुणिमनि कैशोरे वृषस्
वृषभासुरस्यहत्यां कृतवान् मध्यम् अनु मध्ये वयसि पौगण्डे वत्सस
वत्सासुरस्य हिंसां प्राणघातं व्यधित अकरोत् एव ।।४७।।

देवीजनस्य वचनं श्रुत्वा गान्धर्विकायाः स्वाभिप्राय वर्णं
प्रकटयति गान्धर्विकेति । गान्धर्विका श्रीराधा आह प्राह, हे सुभ
हे सत्कुलोत्पन्ने ! सकलमनोहरे हरौ श्रीकृष्णे यथा कापि अप्रतिहत
आर्कर्षिणी शक्तिः सन्तता नित्या अस्ति वर्त्तते तथा त्वय्यपि वर्त्तते
यत् यस्मात् कारणात् मम प्रियतमं श्रीकृष्णं त्वं निन्दसि अपक
सूचयसितदपि उक्तकारणादपि मम चित्तं प्रकामं सर्वथैव आत्म
निन्दाकारिणीं त्वां प्रति अनुरक्तम् एव आनुकूल्यमेव करो
विदधामि ।।४८।।

अनन्तरं श्रीराधा देवीजनं प्रत्याह त्वमिति । त्वं-देवीजनः

यह वोध ही नहीं होता है। पहले पहले वाल्य काल में स्त्री वध,
पौगण्ड में वत्सवध एवं प्रथम कैशोर में ही वृषहत्या किए हैं ।।४७

तव राधिका वोली: अयि सुभगे ! कृष्ण की भाँति तुम्हारी भ
किसी अव्यभिचारिणी शक्ति है, जिससे तुमने मेरेप्रियतम की इतन
निन्दा की है, तथापि मेरा चित्त तुम्हारे प्रति यथेष्ट अनुरक्त क
रही है।।४८।।

त्वं मे सखी भवसि चेन्नदिवं प्रयासि
नित्यस्थितिं व्रज भुवीह मया करोषि ।
तत् प्रेमरत्नवरसम्पुटमुद्घटय्य
त्वां दर्शयामि तदृते न समादधामि ॥४६॥
हन्ताधुनापि नहि विश्वसिषि प्रसीद
दासी भवामि किमु मां नु सखीं करोषि ॥
त्वं शाधि साधु धिनु वा तुद वा गतिर्मे
राधे त्वमेव शपथं करवाणि विष्णोः ॥५०॥

मम श्रीराधायाः यदि सखी विश्वास पात्री भवसि, अपरञ्च चेत् यदि दिवं स्वर्गं न प्रयासि गन्तुंनइच्छसि तदा इह व्रजभूमि मया सह मत् सान्निध्ये नित्य स्थितिं नित्यंवासं करोषि तत् तदा प्रेमरत्न सम्पुटं प्रेम रत्न पेटिकां उद्घटय्य उन्मोचयित्वा त्वां दर्शयामि, मदुक्त उपाय मन्तरा तदृते अन्यथा न समादधामि न शक्नोमि ॥४६ ॥

श्रीराधायाः सन्दिग्धवचनं श्रुत्वा देवाङ्गनावेषधारी श्रीकृष्णः प्राह, हन्तेति, हन्तः अयन्तु सातिशयखेदस्य विषयोवर्त्तते अधुनापि अद्यापि मयि नहि विश्वसिषि नु वितर्के भोःराधे, ! मां सखीं करोषि किमु, सखीत्वेन मां कथं द्रक्ष्यसि अहन्तुतवदासी भवामि । त्वं मयि प्रसीद, मां साधु यथास्यात् तथा यथेष्टम् शाधि अनुशासनं कुरु, अहन्तु श्रीविष्णोः शपथं कर वाणि, धिनु प्रसन्नोभव, अथवा तुद अप्रसन्नोभव,

---

देवाङ्गना वेषधारी कृष्ण वोले–हाय मेरे प्रति अभीभी तुम्हारा विश्वास नहीं हो रहा है ? राधे ! तुम मुझे सखी होने के लिए अनुरोध क्यों कर रहीं हो ?

मैं तो तुम्हारी दासी हूँ । तुम मेरे प्रति प्रसन्न हो जाओ, और जो इच्छा मुझे आज्ञा करो । तुम मुझे अनुग्रह करो और निग्रह ही

वक्तुं तदा प्रववृते वृषभानुनन्दि-
न्याकर्ण्य तां विविदिषामिह चेद्दधासि ।
प्रेमेयदेवमिदमेव न चेदमेतत्
यो वेद वेदविदसावपि नैववेद ॥५१॥
यो वेदयेत् विविदिषुं सखिवेदनं यत्
या वेदना तदखिलं खलु वेदनैव ।

त्वमेव ममगतिः शरणम् भवसि ॥५०॥

त्वमसि मम शरणं ममकोऽपि नास्ति इति ललना वेषवि
तस्य कृष्णस्य वचनं श्रुत्वा श्रीवृषभानुनन्दिनी यत्वक्तुं प्रक्रमते
वाह वक्तुमिति। त्वमेव मम गतिः, नान्याः इति तां वाचम् आ
निशम्यतदा तदनन्तरं वृषभानुनन्दिनी वक्तुं प्रववृते कथितुं प्रक्रम
हे सखि, तव चेत् यदि इह प्रेम विषये विविदिषां ज्ञातुं इच्छां दध
धारयसि, तदा श्रृणु। प्रेम विषये इयत् एवं इदम्। प्रेम्नः प्रमा
इयत् प्रकारतः एवं स्वरूपतः इदमेव न इति एतत् यः वेद असौ
वेदवित् सर्वशास्त्रवेत्ता अपि स प्रेमाणं नैव जानाति ॥५१॥

प्रेमसिद्धान्तं भूयोऽपि कथयति यो वेदयेदिति। हे प्राणस

करो, मैं श्रीविष्णु की शपथ लेकर कहती हूँ ओर मेरा कोई न
तुमही मेरी एकमात्र गति हो ॥५०॥

उनके कथन सुन कर भानुनन्दिनी कही-सखि ! यदि तुम
प्रेम कथा सुनेनेकी इच्छा हो तो सुनो। जो प्रेम के विषय में
है कि प्रेम को मैं जानता हूँ। प्रेम का परिमाण इतना है, प्रेम
प्रकार है, यह ही प्रेम का स्वरूप है, यह प्रेमका स्वरूप नहीं है, वे
वेत्ता होने पर भी प्रेम के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं ॥५१॥

हे सखि, जो प्रेम विषय अवगत होने के लिए इच्छुक

प्रेमा हि कोऽपि परएव विवेचने स
त्यन्तर्दधात्यलमसावविवेचनेऽपि ॥५२॥
द्वाभ्यां यदा रहितमेव मनः स्वभाव
सिंहासनोपरि विराजति रागि शुद्धम् ।

यः कोऽपि विज्ञजनःविविदिषुः प्रेम विज्ञातुं अखिलार्पिणं वेदयेत्, ज्ञापयेत्, यत् वेदनं ज्ञापनं याच वेदना अनुभवः च, तत् अखिलं पूर्वोक्त प्रकारमखिलंवस्तु खलु निश्चये वेदना अनुभवः अनुकरण मात्रमेव, अनु पदार्थ ज्ञानं। यतः प्रेमा हि निश्चये, कोऽपि अनिर्वचनीयः परः परम पदार्थः एव, यत्र विवेचने सति अन्तर्दधाति । तिरोभवति ! असौ प्रेमा अविवेचनेऽपि अलं यथेष्टं अन्तर्दधाति तिरोभवति सेयं उभयतः पाशा रज्जुरिति न्यायस्य विषयो–भवेत् ॥५२

प्रेम्नो निर्दुष्टलक्षणं वदति द्वाभ्यामिनि । यदा यस्मिन् समये रागि रागयुक्तं स्वेष्ट विषये अत्युत्कट तृष्णा युक्तं, एवं शुद्धं स्वेष्टेतर विषये अभिलाषशून्यं मनः अन्तःकरणं द्वाभ्यां विवेचना-अविवेचनाभ्यां रहितं वियुक्तं सत् स्वभाव सिंहासनोपरि विराजति प्रियसुखैक तात्पर्य्येण स्वयं देदीप्यमानं भवति तदा तच्चेष्टितैः प्रियसुखे स्वानु

को प्रेम विषय का अवगत कराना, जो कुछ जानाया जाता है, और जो कुछ जाना जाता है, सब ही प्रेम के विषय में एक विडम्बना मात्र ही है, प्रेम ऐसा एक पदार्थ है; जो विवेचनाका विषय होनेपर अन्तर्धान करता हैं एवं अविवेचना का विषय होने पर भी अन्तर्धान करता हैं ॥ ५२ ॥

जब अन्याभिलाष शून्य शुद्ध राग युक्त मन विवेचना एवं अविवेचना को छोड़ कर स्वभावरूप–सिंहासनोपर विराजित होता है तब प्रिय के सुख में जोसुख होता है, वह सुख ही स्वभाव में अधिरूढ़

तच्चेष्टितैः प्रियसुखे सति यत्सुखंस्यात्
तच्च स्वभाव मधिरूढ़मवेक्षयेत् तम् ॥५३॥
लोकद्वयात् स्वजनतः परतःस्वतोवा
प्राणप्रियादपि सुमेरुसमा यदि स्युः।
क्लेशास्तदाप्यतिवली सहसा विजित्य
प्रेमैव तान् हरिरिभानिव पुष्टिमेति ॥५४॥

कूल्येन प्रियस्योल्लासमनुभूय स्वस्य यत् सुखं स्यात्, तच्च सुखं स्व-
भावं अधिरूढ़ं सत् तं प्रेमाणम् अवेक्षयेत् ॥५३॥

प्रेमलक्षणं दृष्टान्तेन द्रढ़यति लोकद्वयादिति। सिंहो यथा हस्ति-
गणान् विजित्य तेनैव विजय कर्मणा स्वस्य पुष्टिमेति तद्वत् लोकद्वया-
स्वजन शत्रुवर्ग निजदेह देह सम्बन्धीय विषयोयः अथवा प्रियतमादी-
यदि सुमेरु तुल्यः गुरुतरः क्लेशोभवेत्तथापिअतिवलीयान्प्रेमा उक्ता-
परिमेयान् क्लेशसमूहान् विजित्य तेनैव स्वयं पुष्टिमाप्नातीतिभावः
श्लोकार्थश्च अनुरूप एव तथाहि लोकद्वयात् इहलोकात् जीवि-
कालात् परलोकाच्च मरणोत्तरकालात् स्वोपार्ज्जित कर्मफलात् स्व-
जनतः आत्मीयात् परतः अनात्मोयजनात् स्वतः शरीरादेः वा अथवा
प्राण प्रियात् प्राण प्रेष्ठात् कान्तात् अपियदिसम्भावनायाम् सुमेरु समा
अगणिताः क्लेशाः प्रतिकूलावस्थासमूहाः स्युः भवेयुःतत् अपि अतिबल-
असमोर्द्धवलशाली प्रेमा तान् क्लेशसमूहान् सहसा अकस्मात् लीलयै-
विजित्य इभान् करीन् विजित्य हरिः सिंहः इव पुष्टिम् एति तृ-
माप्नोति ॥५४॥

होकर स्वाभाविक चेष्टा समूह द्वारा प्रेम को दिखादेता है ॥५३॥

जैसे सिंह हस्ति गण को पराजित करके उन सब केद्वारा ही
अपनी पुष्टि करता है उसी प्रकार इस लोक, परलोक, स्वजन, शत्रुवर्ग

स्निग्धाङ्गकान्ति रथ गर्वधरोऽत्यभीतो
विश्रम्भवान् स्वपिति किं गणयेदसौ तान् ।
कण्ठीरवः शुन इवाभिभवन् सराग
स्तेष्वेव राजतितमां तमसीव दीपः ॥५५॥
लाम्पट्यतो नवनवं विषयं प्रकुर्व
न्नास्वादयन्नतिमदोद्धुरतां दधानः ।

अनुरूप दृष्टान्तेन तटस्थलक्षणेन प्रेमस्वरूपंदर्शयति । स्निग्धाङ्गेति
नग्धाङ्गकान्तिः चाक्चिक्यमयी मसृणदेहकान्ति र्यस्य सः स्निग्धाङ्ग
ान्तिः अथ अनन्तरं गर्वधरः प्रतापी स्वीयसामर्थ्य विषयकज्ञानवान्
तएव अत्यभीतः सर्वथा भयशून्यः विश्रम्भवान् विश्वस्तः प्राणव्यये
ापि विश्वासं रक्षयति एतादृशः असौ सिंहः तथा प्रेमा उभौ समान
र्माणौ, शुनः कुक्कुरान् अभिभवन् अगणयन् स्वपिति सुखंनिद्रां याति
ाति तुच्छत्वान् तान् कुकुरान्किं गणयेत् कण्ठीरवः सिंहः ? विश्वास
ागभूमिकायामेव प्रेमा निरन्तरं तिष्ठति; अतः सरागः स्वेष्टानुकुल्य
ाषय क तृष्णा युक्तः सः प्रेमा तमसि सूचीभेद्यान्धकारइव सर्वाङ्गीन
ति कूलावस्थायां अन्धकारे दीपः प्रचुर प्रकाशः दीपःइव तेषु क्लेशेषु
व राजतितमां अन्धकारे यथा दीपस्य प्रकाशः अतिशयेन जायते
थैव प्रेम्नः अतिशयेन प्रकाश दुःखदे काले भवति ॥५५॥

सहेतुकं प्रेम्नः समुत्कर्षं वर्णयति लाम्पट्यत इति । लाम्पट्यतः

निजदेह, देह सम्बन्धीय समस्त विषय से अथवा प्राणप्रेष्ठ से भी यदि
ुमेरुतुल्य गुरुतर क्लेश उत्पन्न होता है, तथापि अतिशय बलवान प्रेम
ह अपरिमित क्लेश समूह को भी पराजित करके उन्हीं से स्वयं ही
ुष्टि को प्राप्त करता है ॥५५॥

हे सखि ! लाम्पट्यहेतु यह प्रेम प्रियतम को क्षण क्षण में नूतन

आह्लादयन्नमृतरश्मिरिव त्रिलोकीं
सन्तापयन् प्रलयसूर्य्य इवावभाति ॥५६
एनं विभर्त्ति सखि कः खलु गोपराज
सूनुं विना त्रिभुवने तदुपर्य्यधोऽपि।
प्रेमाणमेन मलमेणदृशोन्ववविन्द
न्नत्रैव गोष्ठभुवि कश्चन तारतम्यात् ॥५७॥

कामुकतातः विषयं कृष्णं तस्य प्रत्येकमाचरणञ्च नवं नवं नूतनं
प्रतिक्षणं प्रकुर्व्वन् आस्वादयन् एवंअति मदोद्धुरतां अतिशय मदाधि
दधानः आह्लादयन् उल्लासयन् अमृतरश्मिः चन्द्रइव त्रिलोकीं ल
त्रयस्य जीवसमूहं, अथचसन्तापयन् अतिशयेनतापं वितरन् प्रलयसू
प्रलय कालीन सृष्टि विनाशक सूर्य्यइव अवभाति।

सपरिकरं प्रेम्नः स्वरूपं वर्णयन् स्व प्रिय कान्तस्योत्कर्षं
यति एवमिति। हे सखि! प्रियसखि! गोपराजसूनं गोपेन्द्रन
नन्दनन्दनं विना विहाय त्रिभुवने लोकत्रये तदुपर्य्यधोऽपि तस्य
वनस्य उपरि महः, जन, तपः सत्यलोके, अधः रसातलादौ च अपि
खलु एनं प्रेमाणं विभर्त्ति धारयति। अत्र एव गोष्ठभुवि व्रजे का
एणदृशः हरिणनयनाः भावस्य तारतम्यात् एनं प्रेमाणम् अलम् अ
शयेन अन्वविन्दम् आस्वादितवत्यः॥ ५७॥

नूतन बना देता है एवं अतिशय मादकता का सृजन करता है, अ
त्रिलोकी चन्द्रके समान आह्लादित एवं प्रलय कालीन सूर्य की भां
सन्तापित कर दीप्तिमान होता है॥५६॥

हे प्रिय सखि! गोपेन्द्रनन्दन के विनायह प्रेम और कहाँ है?
त्रिभुवन में? क्या त्रिभुवन के उर्द्ध में? किम्वा पाताल में? यह
कहीं नहीं है, इस व्रजभूमिमें कतिपय मृगनयनाभाव के तारतम्यानुस

प्रेमाहि काम इवभाति वहिःकदाचि
त्तेनामितं प्रियतमः सुखमेव विन्देत् ।
प्रेमेव कुत्रचिदवेक्ष्यत एव कामः
कृष्णस्तु तत् परिचिनोति बलात्कलावान् ॥५८
कृष्णान्तिकं सखि नयाशु निकामतप्तां
मामित्युदाहरति किन्तुतदात्मजेन ।

कामेन समं प्रेम्नः स्वरूपतः पार्थक्यं प्रकटयन् तस्य स्वरूपमाह
ीति । कदाचित् अति विरले स्थले प्रेमा अन्य ममता रहिता अस
द्धं ममता, अपि काम इव स्वसुखाभिलाष इव बहिः आचरणे भाति
तिभाति । प्रियतमः प्राणप्रेष्ठः श्रीकृष्णः तेनैव कामेन स्वाभिलाष
शेषेण अमितं अपरिमितं सुखं एव विन्देत् प्राप्नुयात् अपरञ्च कुत्र
त् जने कामः स्वाभिलाषविशेष एव प्रेमा इव अहेतुकं निविड़
मता इव अवेक्ष्यते दृश्यते, कलावान् विज्ञशिरोमणिःकृष्णः तु बलात्
व सामर्थ्येनैव परिचिनोति जानाति। तत्र श्रीकृष्णः सुखी न भवे
इति भावः ॥५८॥

प्रेम्नः स्वरूपं पुनरपि विशदयति कृष्णान्तिकमिति । यदा
ाचित् प्रेयसी वदति सखि ! निकामतप्तां समधिक विरहक्लिष्टां मां

ार उस प्रेमका आस्वादन कर रहीं हैं ॥५७॥

कदाचित् प्रेम भी काम के समान बाहर दिखाई पड़ता है उस
प्रियतम अपरिमेय सुख प्राप्त करते हैं। किन्तु कदाचित् किसीव्यक्ति
वशेष में काम भी प्रेम के समान दिखाई पड़ता है। विदग्ध शिरो
णि कलावान् कृष्ण उसको समझ जाते है किन्तु उससे सुखी नहीं
ाते हैं ॥५८॥

और भी प्रेयसी जब कहती है कि सखि ! मैं अतिशय विरह

कामेन तत् सुखपरं दधती स्वभावा
देव स्वचित्तमयमत्र न कामिनीस्यात् ॥५६॥
प्रेमाम्बुधि र्गुणमणी खनिरस्य शाठ्य
चापल्यजैह्म्यमखिलं रमणीयमेव ।
प्रेमाणमेव किल काममिवाङ्गनासु
सन्दर्शयन् स्वमुदकर्षयदेव यस्ताः ॥६०॥

कृष्णान्तिकं नय कृष्ण समीपं प्रापय इति उदाहरति वदति
तस्मिन् कथने किन्तु आत्मजेन कामेन स्वभावादेव प्रेम्नो विष
श्रययो:एकात्मतया यथा प्रिय विरहे प्रियाया: कष्टंभवति तथैव
या: अदर्शने प्रियस्यापि दु:खं भवेत् तदेवानुभूय प्रिया स्वात्मान
सारयितुं स्वसखीं वदति नतु स्व कामापनोदनाय। स्वाभाविक
तत् सुख परं स्वप्रेष्ठतमसुखपरं स्व चित्तं दधती, अत्र अस्मिन्
सा ललना कामिनी न स्यात् न भवेत् ॥५६॥

प्रेष्ठतमस्य श्रीकृष्णस्य निर्दोषतां दर्शयति प्रेमाम्बुधिरि
य: रसिकशेखर: श्रीकृष्ण: प्रेमाम्बुधि: प्रेम्नोऽपार समुद्र: गुणम
खनि: गुणरत्नाकर: ! अस्य श्रीकृष्णस्य शाठ्यं चापल्यं जैह्म्यं श
कपटता चापल्यं चञ्चलता जैह्म्यं असरलता एतेषां दोषाणां स
हार: अखिलं सम्पूर्णं रमणीयम् मनोहरमेव। स: श्रीकृष्ण: स्वं
प्रेमाणम् एव कामम् इव सन्दर्शयन् ता: अङ्गना: उदकर्षयत् एव

पीड़िता हूँ मुझे शीघ्र प्राणनाथ के समीप में ले चलो। तब उ
कामिनी नहीं कही जाती। कारण उससमयभी उसका चित्त प्रिय
निष्ठही है। प्रिय सुख के लिए जो काम उत्पन्न होता है उस काम
काम कहा नहीं जाता है, उसको प्रेम कहाजाता है ॥५६॥

व्रजेन्द्र नन्दन प्रेम समुद्र है, गुण रत्नों के खान है, एवं अत्य

का वाङ्गनाः शतसहस्रममुष्यकाम-
पर्य्याप्तये मदकलाः प्रभवन्तु यत्ताः ।
प्रेमातदत्र रमणीष्वनुपाधिरेव
प्रेमैक वश्यतमता च मयान्वभावि ॥६१॥
तत्रापि मय्यतितरामनुरज्यतीति
लोकप्रतीतिरपि न ह्यनृता कदापि ।

यस्येन्द्रियं विमथितुंकुहकैर्नशेकुः । इतिन्यायमवलम्ब्य श्रीकृष्ण-
ोत्कर्ष प्रकटयति । का इति । शत सहस्रम् अनन्तम् वावा अङ्गनाः
ना: मदकला: यौवनमदोन्मत्ता यत्ता: हाव भावादिभि: कान्तं
ीकर्त्तुं चेष्टाशीलाः प्रयत्नशीला: च सत्य: अमुष्य कान्तस्य श्री-
णस्य कामपर्य्याप्तये कामनिर्वापणाय प्रभवन्तु समर्था: भवेयु: ।
तस्मात् कारणात् रमणीषु ललनासु अनुपाधि: अहेतुक: एव प्रेमा
न्यममता अत्र श्रीकृष्णे प्रेमैकवश्यतमता च मया अन्वभावि
ुभूता ॥६१॥

श्रीभानुतनयायां श्रीकृष्ण: सर्वथैव अनुरक्तोऽस्ति इति वार्त्ता
ादधाति तत्रापीति । तत्रापि तन्मध्ये स: श्रीकृष्ण मयि भानु-

णीय होकर भी अङ्गनागण को उत्कृष्ट करने के लिए शाठ्य;
पल्य, कौटिल्य इत्यादि द्वारा निज प्रेम को काम की भाँति दिखाते
॥ ६० ॥

कौन शत सहस्र अङ्गना योवन मदसे मत्त एवं यत्नवत्ता होकर
श्री कृष्णके काम निर्वापन में समर्था होगी ? कोई भी नहीं । अत-
अङ्गना गणके प्रति अकैतव प्रेम एवं श्रीकृष्ण में उक्त प्रेम वश्यता,
उसका अनुभव विशेष रूपसे करचूकी हूँ ॥६१॥

तन्मध्यमें श्रीकृष्ण मेरे प्रतिअतिशय अनुरक्त है लोक प्रसिद्धि

यत् प्रेम मेरुमिव मे मनुते परासां
नो सर्षपैस्त्रिचतुरैरपि तुल्यमेषः ॥६२॥
प्रेमानुरूपमयि रज्यतियत् परासु
रागानुरूपमिह दीव्यति नापराध्येत् ।
दैवात् व्यतिक्रममुपैति कदाचिदस्मात्
नासौ सुखी भवति तेन च मां दुनोति ॥६[illegible]

नन्दिन्यां अतितरां अत्यन्त रूपेणअनुरज्यति अनुरक्तः भवति [illegible]
प्रतीतिः लोकस्य अनुभवः नहि कदाचिदपि अनृता मिथ्या [illegible]
यत् यस्मात् कारणात् एषः श्रीकृष्णः मे मम प्रेम मेरुमिव सुमे[illegible]
मिव मनुते मानयति, परासां रमणीनां प्रेम तु त्रिचतुरैः सर्षपै[illegible]
तुल्यं समम् नो न मनुते ॥६२॥

अपरं समादधाति प्रेमानुरूपमिति अयि हे प्रियसखि [illegible]
यस्मात् कारणात् स्वनिर्बन्धात् श्रीकृष्णः इह परासु रमणीषु [illegible]
रूपं यस्याः यादृक् प्रेमा तस्य प्रेम्नोऽनुरूपमेव रज्यति तत्र अ[illegible]
भवेत्, रागानुरूपं प्रेममयीतृष्णानुरूपं दीव्यति तत्र क्रीड़[illegible]
तस्मात् कारणात् सः कृष्णः नापराध्येत् वैषम्यदोषेण दुष्टो न[illegible]
दैवात् अनिर्वचनीय कारणात् कदाचित् अस्मात् उक्त नियमात्[illegible]
क्रमम् उपैति प्राप्नोति चेत् यदि तर्हि तदा असौ श्रीकृष्णः स्व[illegible]
सुखी नभवति, तेन दुःखेन कारणेन च मां दुनोति दुःखी करोति[illegible]

भी ऐसी है, वह कदापि मिथ्या नहीं है। कारण वे मेरे प्रेम को[illegible]
के समान मानते हैं एवं अपर अङ्गना के प्रेम को राई की भां[illegible]
नहीं दिखते हैं। ६२ ॥

अपर अङ्गनागण जो जैसी अनुरागिणी है, प्रियतम[illegible]
उनसबके प्रति अनुरूप अनुरागी है एवं तदनरूप ही क्रीड़ा करते[illegible]

सङ्केतगामपि विधाय मदेकतानो
मां नाजगाम यदिहाभवदन्तरायः ।
रुद्धः कयाचिदनुरोधवशात् स रेमे
मद्दुःखचिन्तनदवाहित एवरात्रिम् ॥६४॥
तेनैव मे हृदि महादवथुर्बभूव
मद्वेशभूषणबिलासपरिच्छदादि ।

प्राक्तन प्रश्नस्योत्तरमाह सङ्केतगामिति । मां राधां सङ्केतगां संकेतस्थलाय अभिसारवतीं विधायकृत्वा अपि श्रीकृष्णः यत् न आजगाम, न आगतवान् इह अस्मिन् आगमन विषये अन्तरायः प्रतिबन्धः एव कारणं अभवत् अभूत् वञ्चकता तस्य कारणता न भवेत् । मदेकतानः मय्येकाग्रमनाः सः श्रीकृष्णः कदाचित् कामिन्या रुद्धः अवरुद्धः सन् तस्या अनुरोधवशात् अनुनयवशात् मद्दुःख चिन्तन व्याकुलः मम यत् दुःखं कान्तविरह जनितः क्लेशः तस्य चिन्तनम् राधामभिसारयित्वापि अहं तत्र न गतवान् एतावता राधा मद्विरुद्धाचरणेन कीदृशी दुःखिता अभूत् इति चिन्तया व्याकुलः सन् क्लेशस्य चिन्तनम् एव दवः दावानलः तेन आकुलः एव रात्रिं रेमे ॥६४॥

है । इसमें उनका कोई दोष नहीं होता है । किन्तु दैवात् कदाचित् रागानुरूप क्रीड़ा का यदि व्यतिक्रम भी होता है तो उससे प्रियतम सुखी नहीं होते हैं, इस लिए मैं अत्यन्त दुःखी होती हूँ ॥६३॥

मुझे सङ्केत गामिनी करके भी कृष्ण नहीं आते हैं, उसका विघ्नही कारण है, क्यों कि मेरे प्रति एकाग्र चित्त होने परभी अन्य किसी रमणी के द्वाराअनुरोध वश रुद्ध होकर उसके साथ रमण करते हैं, किन्तु उससे सुखी नहीं होते हैं, कारण रात्रि भर मेरी दुःखचिन्ता रूप दावाग्नि से आकुल होते रहते हैं ॥६४॥

तन्मोदकृत् विफलतामगमत् किमद्य
त्याक्रन्दितं यदपि तर्हि तदन्वभूस्त्वम् ॥६५॥
प्रातस्तमत्यनुनयन्तमतर्ज्जयं भो
स्तत्रैव गच्छ सुखमाप्नुहि तत् पुनश्च ।

कान्तस्य विरहे यत् क्रन्दनमासीत् तस्य कारणमुद्घाटय
तेनेति । श्रीकृष्णः मद् दुःखमनुभूय दुःखी अभूत् तेनेव कारणात् मे म
राधायाः हृदि चित्ते महादवथुः अतिशयः तापः बभूव, तर्हि तन्मोदकृ
तस्य श्रीकृष्णस्य मोदकृत् आनन्ददायकं मद्वेष भूषण विलास परिच्छ
दादि मम वेष भूषणादि अद्य किंविफलताम् अगमत् श्रीकृष्ण सुखार्थं
अलगत् इति मत्वा यदपि आक्रन्दितं सह्यक्तया रोदनं कृतं, तत् रो
त्वम् स्वदुःखरूपं अन्वभूः अनुभूतवती ॥६५॥

स्वापराधिनः कृष्णस्य प्रभातसमये यत् तर्ज्जनादि अनादर
अभूत् तस्य कारणं वर्णयति । प्रातरिति । रात्रिमन्यत्र यापयित्व
उषसि मत् सविधं आगत्य मां अत्यनुनयन्तं अतिशयेन नम्रतया अन
नयन्तं अनुनयं कुर्वन्तं तम् कृष्णं इदमेव उक्त्वा अतर्ज्जयं "भोः
कृष्ण ! तत्रैव गच्छ यस्याः ललनायाः सविधे रात्रिनिवासं कृतवा
तस्याःएव समीपं गच्छ याहि, तत् सुखं आप्नुहि इति" स. रोषः तत

सखि अपर अङ्गना के साथ विलास में प्रियतम मेरी चिन्त
कर जो दुःखी होते हैं, उसके लिए ही मेरा अतिशय मनस्ताप उत्प
होता है । उस समय मैं मेरा वेश-भूषण-विलास-परिच्छदादि विफ
हुआ उनके सुख के लिए नहीं हुआ" ऐसा कह कर रोदन किया था
तुमने उसका ही अनुभव किया है ॥६५॥

प्रभात में जब श्रीकृष्ण मेरे निकट आकर अतिशय अनुन
करते थे तब मैं जो क्रोध केसाथ इस प्रकार कहकर जो तर्ज्जन किय
कि "तुम वहाँपर ही जाओ ! पुनर्वार उसी रमणी का सङ्ग सुखक

रोषः स तत्सुखपरः प्रियतोऽस्थ एवे
त्यालोचय व्रजभुवोऽप्यनुरागचर्य्याम् ॥६६॥
अद्योतयं मुहुरहं निजकाममेव
किं मां विहाय रमयस्यपरां शठेति ।
वाचा स चापि रतिचिह्नजुषास्वमूर्त्त्या
व्यज्यैव काममथ मन्तुमुरीचकार ॥६७॥
प्रेमा द्वयोरसिकयोरयि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चल एवभाति ।

सुखपरः कृष्णस्यसुखपरः एव प्रियतोत्थः ममतोत्थः एव इति एवं प्रकारेण व्रजभुव अनुरागचर्य्या व्रजानुरागरीतिं अपि आलोचय ॥६६॥
अपरञ्च दुर्बोध्यं व्यवहारं समादधाति अद्योतयमिति । मया यदुक्तं हेशठ । कपट, कृष्ण ! मां राधां विहाय किम् अपरां रमणीं रमयसि ? इति वाचा वाण्याअहं निज कामम् निजसुखेच्छां एव मुहुः पुनः पुनः अद्योतयम् प्रकाशितवती । इति तु मदीया वार्त्ता, कान्तस्य कृष्णस्य वार्त्ता अपि इतः विलक्षणा आसीत्, सः कृष्णः नायकः अपि च, रतिचिह्नजुषा अपरललनारमणचिह्नधारिण्या स्वमूर्त्त्या कामं व्यज्यएव स्वसुखं प्रकटय्य मन्तुं स्वापराधं उरीचकार स्वीकृतवान्।६७

अनुभव करो !” वह भी श्रीकृष्ण सुख के निमित्त ही था । अतएव प्रेम जनित ही था। इससे तुम् व्रज भूमिके अनुरागको पहिचानो ॥६६॥
“ हे शठ ! मुझे छोड़कर अपर रमणी के साथ विलास तुमने क्यों किया ?” मैं इस वाक्य द्वारा मुहुर्मुहुः निज काम को ही प्रकाश किया। कृष्णभी रति चिह्लाङ्कित निज मूर्त्ति द्वारा काम को व्यक्तकर अपनी गलती को स्वीकार किया ॥६७॥

द्वारादयं वदनतस्तु वहिष्कृतश्चेत ।
निर्वाति शीघ्र मथवा लघुतामुपैति ॥६८॥
अन्तः स्थितस्य खलु तस्य रुचिच्छटाक्षि
वातायनादधरगण्डललाटवक्षः ।
चारु प्रदीप्य तदभिज्ञजनंस्वभासो
विज्ञापयेदपि विलक्षणतामुपेताः ॥६९॥

प्रेमविषयक व्यवहारस्य शङ्कामपनोदयन् तस्य स्वरूपं वर्ण
प्रेमेति । अयि. हे प्रियसखि ! प्रेमा अन्तःस्था रसिकयोः ममता दी
प्रदीपः एव भवति, हृद् वेश्म हृदयगृहं आलोकयति भासयति, निश्च
एव भाति च वदनतः गृहपक्षे द्वारात् तु अयं प्रेमा वहिष्कृतःचेत् प्राक
श्यंनीतः तदा शीघ्रं तत्कालमेव निर्वाति निर्वाणतां याति, अथ
लघुतां उपैति ॥६८॥

प्रेमा स्वयं प्रकाशोऽस्ति तस्य प्रकाशनेन लघुतां याति अथ
निर्वाणतां प्राप्नोति अतस्तस्य स्वतः प्रकाश रूपतां विशदयति, अन
रिति । रसिकयोर्द्वयो र्हृद्गता ममता एव प्रेमा, अन्तः स्थितस्य अ
र्वत्तिनः खलु तस्य प्रेम्नः रुचिच्छटा कान्तेः प्रकाशः अक्षिवातायन-
नयनरूपात् वातायनात् निर्गत्य वहिर्देशे प्रकाशतामवाप्य अध
गण्ड ललाट वक्षः चारु मनोहरं यथास्यात् तथा प्रदीप्य प्रकाशीकृ

इसलिए मैं कहती हूँ, सखि ! प्रेमरूप प्रदीप जवतक मुख द्वा
से वाहर नहीं होता है, तवतक वह दोनों रसिकों के हृदय रूप गृह
स्थिर भाव से आलोकित करता रहता है। किन्तु वाहर होने से
सत्वर निर्वापित किम्वा लघुता को प्राप्त करता है ॥ ६८॥

हृदय गृह मध्यवर्त्ती यह प्रेम प्रदीप की कान्ति च्छटा नेत्र
गवाक्ष द्वारा निर्गत होकर अधर, गण्ड, ललाट, वक्षःस्थल को उत्त
रूपसे प्रदीप्त कर अभिज्ञ जनको विलक्षण रूपसे निज कान्ति पुञ्ज

कान्तेन किन्तुबहुवल्लभताजुषाऽस्यात्
निष्क्रामितोऽपि स मुहुर्नहि याति शान्तिम् ।
मिथ्यैकभाषणपटुत्वमयी प्रथास्य
कामं दिशेद् यवनिकेव पिधाय तं द्राक् ॥७०
त्वय्येव मे प्रियतमेऽनुपमोऽनुरागः
स्वप्नेऽपि वस्तुमपरा किमु हृद्यपीष्टे ।

तदभिज्ञजनं प्रेमस्वरूपज्ञं जनं विलक्षणताम् किञ्चित् विशेषत्वं उपेता प्राप्ता स्वभासः स्व प्रकाशतां विज्ञापयेत् अपि ॥६९।

प्रेम्नो विलक्षणस्वभावत्वं दर्शयति । कान्ते नेति । बहुवल्लभ-ताजुषा अनेक ललना ललामेन तेनकान्तेन श्रीकृष्णेन आस्यात् वदनात् भाषया मुहु पुन पुनः निष्क्रामितः बहिः प्रकाशितोऽपि सः प्रेमा नहि शान्तिं उपरतिं लघुतां निर्वाणतां वा याति प्राप्नोति । मिथ्यैक भाषणपटुत्वमयी व्रजजनत्रात् मिथ्यावचनपरायणा अस्य श्रीकृष्ण स्य प्रथा परिपाटी यवनिका इव तिरस्करिणी इव तं प्रेमाणं पिधाय सम्यक् आवृत्य द्राक् तत्क्षणात् कामं दिशेत् स्वसुखहेतुकं काममिव प्रकाशयेत् ॥७०॥

च्छटा का विज्ञापन करता रहता है। अर्थात् प्रेम को मुख से कहने पर वह लघुता को प्राप्त करता है, किन्तु प्रेमिके निकट प्रेम छिप नहीं सकता । चक्षु अधर, गण्ड प्रभृतिके लक्षणद्वारा परिव्यक्त होता है।।६९

किन्तु वह बहुरमणीवल्लभ कान्त कृष्ण निज मुखसे उस प्रेम को बारम्बार बाहरकरने पर भी उसका निर्वाण नहीं होता है, कारण एकमात्र मिथ्या भाषणमें पटु कृष्ण की यह रीति जवनिका की भाँति उक्त प्रेम को आच्छादित कर सत्वर काम के समान प्रकट रकती रहती है ॥७०॥

इत्थं हरिर्वदति मानवतीः सदान्या
मां खण्डितान्तु रतिचिह्नभृदेव वक्ति ॥७१॥
मद्वक्त्रनेत्र सुषमा सममाधुरीक-
सौन्दर्य्यवर्णनबलद्विजिहीर्ष एव ।

प्रेष्ठतमस्य श्रीकृष्णस्यव्यवहार वैलक्षण्यं दर्शयति त्वयीति। हरिः परममनोहरः श्रीकृष्णः मानवतीः मान परायणा अन्याःअपराः कान्ताः सदा नित्यमेव इत्थं अनेन प्रकारेण वदति कथन प्रकारमाह "अयि प्रियतमे, त्वयि एव मे मम अनुपमः अतुलनीयः अनुरागोवर्त्तते, स्वप्नेऽपि अज्ञातसारेणापि किमृ अपराः कान्ता मम हृदि वस्तुं वासं कर्त्तुं इष्टे समर्थाभवेत् । मां खण्डितां राधां तु अन्य रति चिह्नभृद् एव अन्यललना सम्भोग चिह्नं धृत्वैव सन् वक्ति कथोपकथनं करोति न लज्जति नापि सङ्कोचयति ॥७१

कान्तस्य अनुपम व्यवहार वैलक्षण्यं वदति मदिति । मद्वक्त्र-नेत्र सुषमा सममाधुरीक सौन्दर्य्य वर्णन वलद्विजिहीर्षः मम राधायाः वक्त्रस्य मुखमण्डलस्य नेत्रयोः नयनयोः च सुषमा शीमा च असमे अनुपमे माधुरीक सौन्दर्य्य माधुर्य्य लावण्ये च मद्वक्त्रनेत्र सुषमा सम माधुरीकसौन्दर्य्याणि तेषां वर्णनेन वलन्ती वर्द्धमाना विजीहिर्षा

अन्य प्रेयसीगण मानिनी होनेपर श्रीकृष्ण उन सबको श्रीकृष्ण कहते हैं कि-"अयि प्रियतमे ! तुम्हारे में ही मेरा अनुपम अनुराग है, मैं क्या स्वप्न में भी अपर रमणीके साथ रमणहृदय से भी कर सकता हूँ," और मैं प्रियतम के अङ्ग में रतिचिह्न को देखकर खण्डिता होने पर श्रीकृष्ण उस अवस्था में ही मेरे साथ आलाप करते रहते हैं ॥७१

श्रीकृष्ण उस अवस्था में ही मेरे मुख और नयन की सुषमा एवं निरूपम माधुरी एवं सौन्दर्य्य का वर्णन करके विहार के लिए

प्राणास्त्वमेवहि ममेति वदन् व्यनक्ति

न प्रेम तत् सदपि किन्त्विह काममेव ॥७२

सन्तप्यते यदि पुनर्विरहाग्निपुञ्जै

रुत्कण्ठया चुलुकितः स्वगभीरिमाब्धिः।

प्रेमव्यनक्ति दयितापि गिरा यथैव

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहेति पद्ये ॥७३॥

विहारेच्छा सङ्गमेच्छा यस्य तथाभूतः सन् एव "त्वम् एव हि मम प्राणाः" इति वदन् अपि तत् प्रेम न व्यनक्ति न प्रकाशयति, किन्तु इह मत् समीपे काममेव स्व सम्भोगेच्छामेव विशेषेण व्यनक्ति प्रकाशयति ॥७२॥

दयितायाः प्रेमरीतिं दर्शयति सन्तप्यते इति अपितु हे सखि ! दयिता व्रजाङ्गना यदि सम्भाव्यस्थले पुनः भृशं विरहाग्निपुञ्जैः प्रियवियोगानलसमूहैः सन्तप्यते तापं प्राप्यते स्वगभीरिमाब्धिः स्वस्य गभीरिमा गाम्भीर्य्यम् एव अब्धिः समुद्रः यदि सम्भावनायां उत्कण्ठया आग्रहातिरेकेण चुलुकितः अत्यल्पमात्रं भवति, तदा तस्मिन्नेव समये "यत्तेसुजात चरणाम्वुरुहेति पद्ये" श्रीमद्भागवतीय रासप्रकरणस्थ पद्ये यथा येन प्रकारेण गोप्यः शुद्ध प्रेमाणं व्यञ्जितवत्यः तथा तेन प्रकारेणैव गिरा शुद्ध प्रेममय वाक्येन एव प्रेम व्यनक्ति प्रकटयति ॥७३

वलवती इच्छा के वशीभूत होकर काम कीही प्रकाश करते हैं। किन्तु "तुमही मेरा प्राणहो" इत्यादि वाक्य पूर्ववत् प्रेम का प्रकाश नही करता हैं ॥७२॥

किन्तु सखि ! दयिता यदि विरहाग्नि पुञ्ज द्वारा सन्तापित हे।, एवं उनका गाम्भीर्य समुद्र यदि उत्कण्ठा से चुलुकित होता है, तव भी जैसे सुजात चरणाम्वुरुहं" इत्यादि पद्यमें गोप रमणीं के

तस्मिन् महाविरसतातितमस्यपारे
न प्राण वायुरपि सञ्चरितुं शशाक-
प्रेमप्रदीपवर एत्यतिदीप्तिमेव
स्नेहो नु यत् प्रचुरतां चिरमाचिकाय ॥७४॥
रासेमयैव विजहार विहाय सर्वा
स्तत्रापि मां यदमुचत् शृणुतस्य तत्त्वम् ।

प्रेम्नः अद्भुत स्वभाव मुपवर्णयति तस्मिन्निति । तस्मिन् सुप्र-सिद्धे प्रेमसम्बन्धे अपारे कूलविहीने महाविरसताति तमसि अतिशय प्रक्षि कूलताामय अतिनिविडान्धकारे प्रकाशसम्भावनावर्जिते प्राण वायुः जीवन वायुः अपि अन्यस्य का वार्त्ता सञ्चरितं गन्तुं न शशाक न समर्थोऽस्ति, किन्तु प्रेम प्रदीपवरः तस्मिन् समये उत्तमः प्रचुर प्रकाशशीलः प्रदीप इव प्रेमा सर्वथा अतिशयेन प्रकाशशीलोभवेत् अति दीप्तिम् एव एति प्राप्नोति। यत् यस्मात् कारणात् स्नेहः तैलं हृदया-र्द्रता च नु चिरं व्याप्य प्रचुरताम् आचिकाय दधार ॥७४॥

रासेसर्वा विहाय राधया समम् विजहार तस्य निगूढ़ रहस्यमुद्‌धाटयति रासे इति । रासे बहुभि र्गोपीभि र्मिलित्वा नृत्यावसरेर्सवाः गोपाङ्गनाः विहाय त्यक्त्वा मया राधयासह एव विजहार, इति प्रसिद्धावार्त्ता, तत्रापि तस्मिन्नपि समये यत् माम् राधां अमुचत् त्यक्त-

---

वाक्य द्वारा प्रेम प्रकट हुआ है, उस रीतिसे ही वाक्य द्वारा प्रेम का प्रकाश करने लगते हैं ॥७३॥

उस महाविरह वैवश्य रूप अतिशय अपार अन्धकार में प्राण वायु सञ्चरण करने में असमर्थ होने परभी प्रेम प्रदीप अत्यन्त दीप्ति प्राप्त करता है, कारण प्रचुर स्नेहरूप तेल उसमें मिलित है, अर्थात् अत्यन्त विरह विवशता के कारण प्रेम व्यक्त होने परभी लघुता

प्रेमाम्बुधे र्व्रजपुरन्दरनन्दनस्य
मामेव मन्तुरधिकां न कदापि मन्तुः ॥७५॥
अध्यास्य मामतुलसौभगदिव्यरत्न
सिंहासनं बहुविलासभरै र्विभूष्य ।

वान् तस्य तत्त्वं यथार्थस्वरूपं शृणु, प्रेमाम्बुधेः प्रेमनिधेः व्रजपुरन्दर नन्दनस्य नन्दनन्दनस्य माम् राधामेव अधिकां मन्तुः मन्यमानस्य कदापि न मन्तुः अपराधः स्यात् अर्थात् सर्वत्र सर्वदा श्रीकृष्णः मामेव अत्यधिकं सम्मानं करोति, अतएव निष्कपटाचरणकारिणस्तस्य मम दुःखाचरणं न सम्भवेदिति भावः ॥७५॥

प्रेम्नोऽनुपम रहस्यमुद्घाटयति अध्यास्येति । श्रीभानुतनयां माम् अतुलसौभगदिव्यरत्न सिंहासनम्; अतुलं अनुपमं सौभगं सौभाग्य रूपं दिव्यं लोकोत्तरं यत् रत्नसिंहासनं तत्र अधिशीङ्स्थासामाधार कर्म इति नियमेन अत्र कर्मत्वं, अध्यास्य आवेशयित्वा, अनुपम सौभाग्यपूर्णं कृत्वा बहुविलासभरैः विविध रमणातिशय्यैः विभूष्य अलङ्कृत्य वनात् वनं गच्छन् नानास्थानं परिभ्रमम् अरीरमत् अतिरायेन रमितवान् । रमणसमये वैशिष्ट्य मिदमेव आसीत् यत् नायं अयं कान्तशिरोमणिः श्रीकृष्णः पुन अन्यां कान्तां अपरां प्रेयसीं

प्राप्त नहीं कर स्नेह वश के कारण स्वयं ही पुष्टि प्राप्त करता है ।।७४।

रास में सकल गोपियों को परित्यागकर पुनर्वार मुझ को भी परित्याग किये थे, उसका कारण सुनो ! व्रजेन्द्र नन्दन प्रेम समुद्र है, सर्वापेक्षामुझ कोअधिक मानते हैं, अतएव उससे उनका कभी भी दोष हो नहीं सकता ।।७५।।

कारण वे मुझे अनुपम सौभाग्य रूप दिव्य रत्न सिंहासन में बैठाकर बहुविध 'विलास रूप भूषण से भूषित कर वन वन में भ्रमण करते करते रमण किए थे, वे अन्य कान्ता 'को स्मरण पथ में भी नहीं

गच्छन् वनाद्वनमरीरमदेव कान्ता

मन्यां पुनः स्मृति पथेऽपि निनाय नाथम् ॥७६॥

किञ्चिन्मयैव मनसैव विचारितं त-

द्र्यैतं महोत्सव सुधाम्बुधिमत्यपारम् ।

नैवान्वभुन्मम सखीतति रावयोः सा

विश्लेषसञ्ज्वरधुताक्वनु किं करोति ॥७७॥

स्मृतिपथे मनसि अपि निनाय न नीतवान् । मया सह रमणेन रमणस्य विभोरतायाः पराकाष्ठासीदितिभावः ॥७६॥

श्रीभानुतनया स्वगत विमर्शान्तरं वर्णयति किञ्चिदिति, तर्हि कान्तस्य विलासतल्लीनतामनुभूय मया एव स्वयमेव नतु अन्य प्रेरणया मनसा एव अन्तः करणेन विचारितम्, एतम्, अत्यपारं पारावार विहीनं महोत्सवसुधाम्बुधिं अत्यानन्दामृतसिन्धुं मम सखीततिः सखीसमूहः सख्यः श्रीराधिकायाः प्रेमवल्याः किशलयदलतुल्याः स्वतुल्याः इति नियमेन विलासानन्दसमये तासां विषये भानुनन्दिन्याः स्वरसतोमनोनिवेशः आसीदिति भावः न एव अन्वभूत् नानुभूतवती । प्रत्युत सा प्राणप्रेष्ठा सखीततिः आवयोः श्रीराधाकृष्णयोः विश्लषे सञ्ज्वरधूता वियोगताप संतप्ता सती क्वनु किं करोति । अत्यानन्द-समयेऽपि सहृदये प्रियजनस्यस्मृतिर्भवेत् । अनिष्ट शङ्कीनि बन्धु-हृदयानि भवन्तीति भावः ॥७७॥

लाते ॥७६॥

तव मैंने मन ही मन विचार किया यह अपार महासुखामृत समुद्र कादर्शन सखीयों का नहीं हुआ, वे सव हमारे विरह ताप से व्यथित होकर कहाँ हैं ? एवं क्या कर रहीं हैं ॥७७॥

यदि हम दोनों क्षण काल यहाँपर ठहरते तो सत्वरही सखीगण

अत्रास्वहे यदि पुनः कतिचित् क्षणास्ता
आल्यो मिलन्ति रभसादभितो भ्रमन्त्यः ।
इत्यभ्यधां प्रियतमाथ न पारयेऽहं
गन्तुं मुहूर्त्तमिह विश्रमणं भजेव ।।७८
तन्मे मनोगतमिदं सहसैव साधु
सर्वं विवेद सविदग्धशिरोमणित्वात् ।
चातुर्य्यसम्पदतुलो रसिकाग्रगण्यः
किञ्चित् सपद्यथ हृदैवपराममर्श ।।७९।।

विमर्शान्तिरमाह अत्रेति अत्र विलासमहोत्सव स्थले यदि सम्भावनायां पुनः कत्तिचित् कतिपयाः क्षणाः समयाः आस्वहे अभितः सर्वतोभावेन भ्रमन्त्यः अन्वेषयन्त्यः ताः आल्यः सख्यः रभसात्सहसैव त्वरितमेव मिलन्ति अत्र आगच्छन्ति, इति, विचिन्त्य अथ अनन्तरं अहम् श्रीराधा, अभ्यधां कथितवती, कथन प्रकारमाह हे प्रियतम प्राण प्रेष्ठ ! अहंगन्तुं न पारये गन्तुमहं न शक्नोमि, मुहूर्त्तं व्याप्यं कियत्क्षणं इह अस्मिन् स्थाने विश्रमणं विश्रामं भजेव इति ।।७८।।

न पारयेऽहं गन्तुंमिति कथनं श्रुत्वा कान्तस्यमनसि यादृश्य वस्थासीत् तां वर्णयति तन्मे इति । सः प्रसिद्धः श्रींकृष्णः विदग्ध-शिरोमणित्वात् असीमविज्ञत्वात् मम भानुतनयायाः साधु उत्तमरूपेण मनोगतं हृद्गतं तत् इदं सर्वं सहसा तत्क्षणादेव विवेद ज्ञातवान् । अथ

इधर उधर घूमती हुई यहाँपर आ पहुँचेगी । यह विचार कर मैंने कहा " हे प्रियतम, मैं और चल नहीं सकती हूँ हम दोनों यहाँपरकुछ देर विश्राम कर लें ।।७८।।

मेरे मन के भाव को वे विदग्ध शिरोमणि सहसा ही समझ गयेथे । अनन्तर चतुर, अनुपम, रसिकाग्रगण्य नागर श्रीकृष्ण ने मनही

एतां नयन्नुपवने यदि वंभ्रमीमि
सम्भावितालयतिरुजा पुरुविद्धचित्ताम् ।
किं स्यात् सुखं यदि दधे स्थितिमत्रगोपाः
सर्वा मिलेयुरपि ताः कुटिलभ्रुवो माम् ॥८०॥
एतां पुनश्चिरमनेकमुपालभेरन्
भङ्गश्च साम्प्रतिककेलिरसस्यभावी ।

अनन्तरं चातुर्य्यसम्पदतुलः चातुर्य्यमेव कौशलमेव सम्पत् तया अतुलः अतुलनीयः रसिकाग्रगण्यः रसिकशेखरः सः श्रीकृष्णः सपदि सद्यः एव हृदा मनसा किञ्चित् परामम‍र्श विचारितवान् ॥७९॥

श्रीकृष्णस्य विचारमाह एतामिति युग्मकेन । सम्भावितालयति रुजा सम्भाविता कल्पिता आलीनां सखीनां या अतिरुक् अति क्लेशः तया अतिरुजा कारणेन पुरुविद्धचित्ताम् अतिशय क्लिष्ट हृदयाम् एतां राधां नयन् उपवने यदि सम्भावनायां वंभ्रमीमि भृशं अटामि, तर्हि तदा किं सुखं स्यात् भवेत् न किमपि उल्लासं भवेत् । यदि अत्र अस्मिन्नेव स्थाने स्थितिं दधे अवस्थानं करोमि, तर्हि तदा ताः सख्यः अपि कुटिलभ्रुवः रोषकषायितनेत्राः सत्य मां मिलेयुः मिलिताः भवेयुः एनां मत्सहचरितां राधां भानुतनयांपुनःचिरं बहुकालं अनेकम् उपालभेरन् तिरस्कारं कुर्वन्ति च, सम्प्रतिक केलिरसस्य प्रारम्भ-लीलास्वादनस्य भङ्गः विघटनं च भावी भविष्यति क्रुधा क्रोधेन तासु

मन इस प्रकार विचार किया ॥७९॥

यदि राधिका को साथ लेकर मैं इस उपवन में भ्रमण करूँ, तो अब कुछ भी सुख नहीं होगा, क्योंकि यह राधा सखीयों की मनः पीड़ा की सम्भावनाकर चित्त में अतिशय दुःख अनुभव कर रही है, और यदि यहाँपर ठहरूँ तो सब गोपीगण मिलकर हर्ष से मेरे प्रति

सम्पत्स्यतेऽद्य नहि रासविनोदनृत्यं
तासु क्रुधा निज निजं सदनं गतासु ॥८१॥
यत् प्रार्थितं स्वकुतुकेन पुरानयैव
शक्नोषि किंनु कुलजार्बुदलक्ष कोटीः ।
आलिङ्गितुं प्रियतम क्षणमेकमन्वि
त्यास्ते दिदृक्षित मिदं मम पूरयेति ॥८२॥

सखीषु निज निजं स्वस्व सदनं आलयं गतासु सतीयु अद्य अस्मिन्नेव समये रास विनोद नृत्यं नहि सम्पत्स्यते न भविता ॥८०॥८१॥

कान्तस्य विचारान्तरमाह यदिति श्लोकद्वयेन । यदिति युग्म कम् । यत् यस्मात् कारणात् पुरा प्राक्तन समये अनया भानुनन्दिन्या एव स्वकुतुकेन आत्मन कौतुहलवशात् प्रार्थितं प्रार्थना प्रकारं माह हे प्रियतम कृष्ण ! किं नु एकं क्षणम् युगपदेव अनुकूल जार्वूदलक्ष-कोटी: अपरिमिता: व्रजकुलाङ्गनाः आलिङ्गितुं वाहुद्वयेन अवरोद्धुं शक्नोषि ? इति मम दिदृक्षितं दर्शनेच्छा आस्ते, तत् पूरय इति तस्मात्

कटाक्ष करेंगी, एवं राधिका को तिरस्कार करेंगी । ऐसा होने पर आरब्ध केलिरसभङ्ग होगा, विशेषत: क्रोध कर वे सव अपने अपने घर को लोट जाने से आज और रासविनोद नृत्यादि सम्पन्न नही होगा ॥८०॥८१॥

हे सखि ! मन ही मन श्रीकृष्णने और भी विचार किया था, गोपीङ्गनागण के साथ यदि रास विलास नृत्य सम्पन्न नहीं होता है, तव ये राधिका पहले जो कौतुक वश कही थी " प्रियतम, एकसमय में ही तुम क्या अर्वुद एवं लक्षकोटि कुलवती को आलिङ्गन कर सकते हो, यदि कर सको तो उसे देखने के लिए मेरी इच्छा होती है" मेरे निकट श्रीराधाकी यहप्रार्थनाभी पूर्णनहीं होगी अतएवउस अङ्गनागण

तस्मादिमामपि जहत् पलमात्रमेव
निर्दूषणां विनयिनीं प्रथमं विधाय
मन्तुं स्वमूर्द्धन्यखिलमेव दधाम्यृणीस्यां
ताः स्नेहयानि निखिला अपिसर्वथास्याम् ॥८३॥
वैश्लेषिक ज्वरमपार मतुल्यमस्याः
सन्दर्श्य विस्मयमहाब्धिषु मज्जितानाम् ।

इमां राधाम् अपि प्रथमम् पूर्वमेव पलमात्रम् अत्यल्प कालमेव जहन् त्यजन् सन् विनयिनीं विनीतेति प्रसिद्धां निर्दोषणां दोषशून्यां च विधाय कृत्वा अखिलम् एव मन्तुम् अपराधं स्वमूर्द्धनि स्व मस्तके दधामि धारयामि; तेन च गुणी स्याम् अनेन आचरणेन ताः निखिलाः अपि गोप्यः अपि सर्वथा अस्यां राधायां स्नेहयानि आर्द्रहृदयाः करोमि ॥८२॥८३॥

प्रियतमस्य हृद्गतभावं वर्णयति वैश्लेषिकेति । अस्याः भानुनन्दिन्याः अपारं सीमारहितं अतुल्यं अनुपमं वैश्लेषिकज्वरं वियोगसंतापं सन्दर्श्य प्रदर्श्य विस्मयमहाब्धिषु विस्मय सागरे मज्जितानां निमग्नानां तासां गोपीनां स्व प्रेम गर्वम् स्वीय प्रेमोत्कर्षमननात् तासां

को मेरे प्रति सर्वतो भावेन स्नेह युक्त कराने के लिए वक्ष्यमाण उपाय अवलम्वन किया। प्रथमतः ये राधिकाको भी क्षण काल के लिए परित्याग कर इस को विनयिनी एवंनिर्दोष कर सव दोष अपने उपर लेकर अङ्गनागण को दिखायेंगे कि राधिका का कोई दोष नहीं है, सव दोषही मेराहै, वेसव इस प्रकार मान जायें, इसलिए मैं भी राधा के निकट आभारी रहूँगा ॥८२॥८३॥

श्रीं राधिका का अपार अनुपम विच्छेद-ज्वर प्रदर्शन पूर्वक उनसव को विस्मय सागर में निमज्जित कर एवं उस सव के निज

स्वप्रेमगर्वमपि निर्धुनवान्यथैना
न्ताभि र्महाधिक तमामनुभावयामि ॥८४॥
सम्भोग एष सकलाधिक एव विप्र
लम्भोऽपि सर्वशत कोटि गुणाधिकोऽस्तु ।
ताभ्यां शुचिः परम पुष्टि मुपैतु चास्या
न्ता ह्रेपयत्वलमिमान्तु गुरूकरोतु ॥८५॥

सर्वोत्कृष्टत्व मननं अपि निर्धुनवानि विदूरी करवाणि, अथ अनन्तरं ताभिः गोपाङ्गनाभिः एनां राधां महाधिकतमां सर्वोत् कृष्टाम् अनु-भावयामि प्रत्याययामि ॥८४॥

कान्तस्य हृदयस्य विमर्शान्तरमाह सम्भोग इति । एषः वार्त्त-मानिकः सम्भोगः पारस्परिकमेलनम्, यथा येन प्रकारेण अस्या श्री-भानुनन्दिन्यां सकलाधिकः सर्वाभ्यः अधिक श्रेष्ठः एव तथा तेनैव प्रकारेण विप्रलम्भः वियोगः अपि सर्वशतकोटिगुणाधिकः सर्वाभ्यः शतकोटि गुणा धिकः अस्तु भवतु । शुचिः श्रृङ्गारः उज्ज्वलः, द्वाभ्यां संयोग वियोगाभ्यां परम पुष्टिम् परमनिविड़तां उपैतु प्राप्नोतु, ताः गोपरमण्यः अलम् यथेष्टं ह्रेपयतु लज्जिताः करोतु इमां राधां गुरु करोतु इतः प्राक् श्रीराधां प्रति एतासां उत्कृष्टावृद्धिनासीत् सम्प्रति अत्याधिक्येन उत्कृष्टां वृद्धिं करोतु च ॥८५॥

प्रेम निमित्त गर्व दूरीभूत कर के " इस सब की अपेक्षा ये राधा श्रेष्ठ तमा ऐसा अनुभव कराऊँगा ॥८४॥

सम्भोगरस जैसे राधिका में अधिक रूपसे सिद्ध होता है वैसे विप्रलम्भ भी उनमें ही शत कोटि गुण अधिक है यह भी देखें । मधुर रस सम्भोग एवं विप्रलम्भ द्वारा जो परम पुष्ट होता है, वह देख कर भी वे लज्जान्विता हो जाये एवं राधिका को सर्वोत्कृष्ट रूपमें अनुभव

कामी हरि र्भवति नो यदसौ विहाय
प्रेमाधिका अपिरहो रमते तु तस्याम् ।
इत्थं वदन्त्य इह सम्प्रति या रुषास्या
आलीस्तुदन्ति वहु नावपि दूषयन्ति ॥८६।
त एव कोटिगुणिताविरहे त्वमुष्याः
प्रेमाग्नि वाड़वशिखाः परिचाययामि ।
याभिर्वलादुपगतादवलिह्यमानाः
स्वप्रेमदीपदहनायितमेव विद्युः ॥८७॥

कान्तस्य स्वाभिप्रायं भूयोऽपिवर्णयति कामीति युग्मकेन; हरिः श्रीकृष्णः कामी कामुको भवति, यत् यस्मात् कामिनः असौ कृष्णः प्रेमाधिकाः व्रजाङ्गनाः अपि नः अस्मान् प्रेमवत्यः विहाय त्यक्त्वा तस्यां राधायां तु रहः निभृते रमते,इत्थं अनेन प्रकारेण वदन्त्यः कथ-यन्त्यः सम्प्रति याः रुषाः क्रोधेन अस्याः राधायाः आलीः सख्यः ललितादयः तुदन्ति व्यथयन्ति, नी आवाम् अपि वहुदूषयन्ति, तागोप्यः एव तु विरहे अस्मत् वियोगे अमुष्याः कोटि गुणिताः प्रेमाग्नि वाड़व शिखाः प्रेमाग्ने र्ज्वालाः परिचाययामि अनुभावयामि । याभिः प्रेमाग्नि

करें, सखि ये सव कारण से ही वे मुझे रासमें छोड़गये थे ॥८५॥

सखि ! और भी उनका अभिप्रायथा श्रवण करो जो अङ्गना गण, "सम्प्रति कृष्ण कामी है, कारण हम सव राधिका की अपेक्षा अधिक प्रेमवती हैं, तथापि हम सवको छोड़कर उस राधिकाके साथ रमण कर रहे हैं' यह कहकर क्रोधसे ललितादि सखीगण को दुःखी एवं हमदोनों को दूषित कर रहीं है, वे सव विरह में अपनी अपेक्षा राधिका की कोटि गुणित प्रेमाग्नि की तीव्र शिखा समूह का परिचय

एवञ्च सेत्स्यति मदीप्सितमैक्यमासां
रासाख्यनाट्यमनु मण्डलतां गतानाम् ।
मध्ये मया सह रुचातुविराजमाना
मेनां विलोक्य न भवेदपि काचिदीर्षा ।।८८।।
कष्टं कदापि सुखसम्पदुदर्कमेव
मित्राप मित्रमपि यच्छति तद्धितैषि ।

शिखाभिः उपगतात् प्राप्तात् वलात् हठात् अवलिह्यमानाः व्याप्ताः सत्यः ताः एव गोप्यः एव स्वप्रेम दीप दहनायितम् स्वल्पमात्रं ज्वालामात्र एव विद्युः ।।८६।।८७।।

कान्तस्य स्वान्त वार्त्तां प्रकटयति एवञ्चेति । एवञ्च पूर्वोक्त रीत्यनुसरणेनआसाम् गोपीनाम्ऐक्यम्एकता मदीप्सितं सेत्स्यति, तथा रासाख्यनाट्यम् हल्लीसकं युग्मनृत्यं ताण्डवं लास्यं अनु मण्डलतां गतानाम् आसां गोपीनाम् मध्ये मया श्रीकृष्णेन समं सह रुचा विराज मानां एनां राधां विलोक्य तु काचित् अपि ईर्षा उत्कर्षासहनी दृष्टिः न भवेत् ।।८८।।

सोदाहरण कौशलस्य परिणामम् वर्णयति कष्टमिति, हितैषि

प्राप्त करें, और विरहिणी राधा के निकटवर्त्तिनी होने पर जव उनकी प्रेमानलशिखा समूह बल पूर्वक उनसवको अवलेहन करेगी तव वे सव अपने प्रेम को क्षुद्र दीपाग्नि के तुल्य मानेंगी ।।८६।।८७।।

उन सवों में एकता स्थापित हो यह मेरी अभिलाष है, इस प्रकार से ही अभिलाष सिद्ध होगी । और रास नृत्य के समयमण्डलाकार में रमणीगण की अवस्थिति होगी, उस मण्डली के मध्य में मेरे साथ विराजमाना राधिकाको देखकर भी इस के प्रति किसी की ईर्षा नहीं होगी ।।८८।।

तीव्राञ्जनैर्यदपि मूर्च्छयति स्वदृष्टि
मायत्यति द्युतिमतीं कुरुते जनस्ताम् ।।८६।।
इत्यात्तयुक्तिरुरसा सरसं वहन् मां
गत्वा पदानि कतिचिन्मृदुल प्रदेशे ।
अत्रास्यतां क्षणमपीति निधाय तत्रै
वास्ते स्म मे नयन गोचरतां जहत् सः ।।६०।।

हिताभिलाषि मित्रं विश्वस्त हृदयं मित्राय सख्ये अपि कदापि समय विशेषे यत् कष्टं यच्छति ददाति । तत् कष्टं सुख सम्पदुदर्कं परिणामे सुख सम्पत् एव फलं भवति । सोदाहरणं वक्तव्यार्थं द्रढ़यति, जनः मानवः तीव्राञ्जनैः प्रथमतः चक्षुषि अञ्जन प्रदानेन पीड़ाभवेत् अनन्तरं स्निग्धतां अतिशयं नेत्र ज्योति रपि वर्द्धते तद्वत्, पीड़ाकरै अञ्जनैः यदपि स्वदृष्टिं मूर्च्छयति आवृणोति, तत् तां दृष्टिं स्वदृष्टि आयत्यति द्युतिमतीम् आयत्याम् उत्तर काल अतिशयेन द्युति शालिनीं कुरुते ।।८६।।

कान्तस्य विमर्शानुरूपमाचरणं वर्णयति इत्यात्तयुक्तिरिति । इति आत्त युक्ति पूर्वोक्त प्रकारेण कृतयुक्तिः सः श्री कृष्णः माम् राधां उरसा वक्षसा सरसं सस्नेहं यथास्यात्तथा वहन् कतिचित्पदानि गत्वा अत्र क्षणं अपि आस्यताम् उपवेश्यताम् इति उक्त्वा वदन् मृदुल प्रदेशे स्निग्धस्थाने निधाय स्थापयित्वामे मम नयन गोचरतां नेत्र गोचरतां जहत् त्यक्त्वा सन् तत्रैव तस्मिन्नैव उपवेशसथाने एव निलीय आस्ते स्म ।।६०।।

जैसे लोक पहले तीव्र अञ्जन द्वारा निज नेत्र को मूर्च्छित कर अनन्तर उसको अत्यन्त उज्ज्वल करते हैं तद्रुप हितैषी मित्र किसी समय जो कष्ट देते हैं सुख सम्पत्ति ही उसका परिणाम है ।।८६।।

दृष्ट्वाममाति विकलत्व मपास्त धैर्य्यो
दातुं स्वदर्शनमियेष यदा तदैव
गोप्यः सखी विततयश्चसमेत्य ता मत्
सन्धुक्षणे समयतन्त नितान्ततप्ताः ।।६१।।
यच्चावधीत् पुनररिष्टवकाघवत्सान्
विश्वद्रुहः कपटिनोमपि पूतनां ताम् ।

प्रियतमस्य विदग्धतां वर्णयति दृष्ट्वे ति । हे सखि ! मम भानुनन्दिन्याः अतिविकलत्वं दृष्ट्वा प्रियविरहेण अति व्याकुलत्वं निशाम्य अपास्तधैर्य्यः अधैर्य्यः सन् यदा यस्मिन् समये स्वदर्शनंदातुं आत्मानं मम समीपे प्रकटयितुं इयेष इच्छांकृतवान् तदा एव तस्मिन्नेव समये ताः गोप्यःसखीविततयः च समेत्य नितान्ततप्ताः विरह क्लिष्टाः सत्यः मत् सन्धुक्षणे मदीय तापसंतप्तहृदयस्यानुकूल्य प्रकटने समयतन्तु प्रयत्नवत्यः भवन्तु ।।६१।।

मनोहर प्रियतमस्य निर्द्दोषतां प्रतिपादयति, यच्चेति । यत्त्वया प्रागुक्तं श्रीहरिः विश्वद्रोहीति, तदुत्तरं शृणु । पुनः विश्वद्रुहः विश्वेषां

अयि देवि मेरे प्रियतम इस प्रकार विचार कर अनुराग के साथ मुझे वक्षःस्णलमें धारण पूर्वक कोई एक पद जाकर " प्रिये ! क्षण काल यँहापर ठहरो यह कह कर किसी मृदुल प्रदेश में मुझे रख कर वहाँ पर छिपगये ।।६०।।

सखि ! मेरे प्रियतम उस समय मेरी अत्यन्त व्याकुलता को देखकर अधैर्य्य होकर जव मुझे दर्शन देने के लिए इच्छुक होगये उसी समय अन्यान्य गोपीगण एवं मेरी सखीवृन्द मेरे समीप में आकर नितान्त दुःखिता होगई एवं मुझे आश्वस्त करने के लिए यत्न वती हो गई ।।६१।।

दोषो न चायमपि तूच्चतरैव विष्णु
शक्ति र्हरावजनि साधुजनावनीयम् ॥६२॥
नारायणेन सदृशस्तनयस्तवाय
मित्याह यद्व्रज पुरन्दरमेवगर्गः ।
तत् साक्षिभुतमिह दैत्यवधादि कर्म
लोकोत्तरं समुदगाद् गिरिधारणादि ॥६३॥
किञ्च स्फुरत्ययि यथा ममचेतसीदं
तेनापि नापि कथितं मुनि पुङ्गवेन ।

द्रोह कारिण: अरिष्टवकाघवत्सान् कपटिनीं कपट वेशधारिणीं तां पूतनां च अपि अवधीत् हतवान् नच अयं दोष.भवति अपितु इयं साधु जनावती सज्जनपोषणकारिणी उच्चतरा एव विष्णुशक्तिः अजनि समुद्भूता ॥६०॥

स्वोक्तिसमर्थकेति हासमाह नारायणेति । यत् गर्गमुनिः व्रज पुरन्दरं श्रीनन्दराजं प्रति आह नारायणेन सदृशः तव अयं पुरोवर्त्ती तनयः इति । इह अस्मिन् प्रसङ्गे दैत्यवधादि गिरिधारणादि यत् लोकोत्तरं कर्म तत् साक्षिभुतं समूदगात् । श्रीगर्गमुने र्वाक्यानुरूपमेवेति भावः ॥६३।

और हरिनेजो विश्वद्रोहीअरिष्ट, वक, अघ, वत्स, एवंकदटिनी पूतना को वध किया, इस से उनका कुछ भी दोष नही होताहै, कारण सज्जन पालन कारिणी उच्चतरा विष्णुशक्ति श्रीहरि में आविर्भूत होकर असुर संहार करती है ॥६२॥

गर्गमुनि व्रजेन्द्र के निकट कहे थे " तुम्हारे यह पुत्र नारायण के सदृश है। दैत्य वधादि एवं गिरि धारण प्रभृति अलौकिक कर्म सकल उक्त मुनि वाक्य के साक्षी स्वरूप है ॥६३॥

नारायणोऽप्यघभिदो नहि साम्यमस्य
रूपैर्गुणैर्मधुरिमादिभिरेतुमीष्टे ।।६४।।
आकर्ण्य कर्णरमणीयतमाः प्रियाया
वाचो हरिः सरभसं पुनरभ्यधत्त ।
प्रेमोक्त एव खलु लक्षित लक्षणोयः
सोऽयं त्वदाश्रयक एव मयाध्यबोधि ।।६५।।

स्व निष्कर्षमुद्घाटयति किञ्चेति, किञ्च भूयोऽपि शृणु अयि देवि ! नारायण समोगुणः नारायण वैकुण्ठेश्वरः अपिरूपै गुणैः अस्य अघभिदः साम्यं समानत्वं एतु प्राप्तुं नहि ईष्टे समर्थो न भवेदित यद्यपि तेन मुनिपुङ्गवेन मुनिश्रेष्ठ श्रीगर्गेण अपि न कथितं तस्य नाम करणावसरे तथापि इदं कथनं यथा यथावत् मम चेतसि स्फुरति ।६४।।

श्रीभानुनन्दिन्याः कथनं श्रुत्वा देवीजनोऽप्याह आकर्ण्येति । प्रियायाः भानुनन्दिन्याःकर्ण रमणीयतमा कर्णरसायना. वाचः आकर्ण्य निशम्य हरिः श्रीकृष्णः प्रच्छन्न देवीजनः सरभसं हठात् स कौतुकं विनोदयुक्तं वा पुनः भूयोऽपि अभ्यधत्त कथितवान् । लक्षितलक्षणः यः प्रेमा त्वया उक्तः एव, सः अयंप्रेमाखलु त्वदाश्रयकः त्वय्येव वर्त्तते इति मया देवीजनेन अध्यबोधि अवगतम् ।६५।।

प्रेम स्वरूपं श्रीभानुनन्दिन्याः प्रमुखात् श्रवणानन्तरं तस्य

किन्तु देवि ! नारायण, रूप, गुण, माधुर्य्यादि में अघारि के तुल्य नहीं ही सकते हैं, नामं करण के समय मुनिवर ने यह वातकहे नहीं थे तथापि यह वात मेरे मनमें स्फूर्त्ति होती है ।।६४।।

देवी श्री राधिका के कर्ण रसायन रमणीय वाक्य सुन कर कौतुक के साथ पुनर्वार कहने लगी भाविनि ! तुमने जो प्रेमकालक्षण किया तुमही केवल उस प्रेम का आश्रय हो यह मैं जान गई हूँ ।।६५।।

दोषा अपिप्रियतमस्य गुणा यतःस्यु
स्तद्दत्तकष्टशतमप्यमृतायते यत् ।
तद्दुःखलेश कणिकापि यतो नसह्या
त्यक्त्वात्मदेहमपि यं न विहातुमीष्टे ॥६६॥
योऽसन्तमप्यनुपमं सहमानमुच्चैः
प्रत्याययत्यनुपदं सहसा प्रियस्य ।

लक्षण सारं वदति दोषा इति द्वयेन,संक्षेपतःप्रेम्नि पञ्चानुभावं सुस्पष्ट तया विलसति । यतः प्रियतमस्य दोषाःअपि गुणवत् प्रतीयन्ते, असंख्य दुःखं दत्तेऽपि प्रियतमैः तदपि यस्मात् अमृतायते । यतः प्रियतमस्य स्वल्पमपि दुःखं सोढ़ुं न शक्नीति प्रियजनः स्वात्मानं त्यक्त्वापि यं विहातुं न ईष्टे, यस्मात् महत्वाभावे अपि प्रियतमे अनुपदमेव नूतनं नूतनं महिमानमनुभवतिजनः स खलु प्रेमाभवति । यतः प्रेम्नः प्रियतमस्य ममत्वालम्वनस्य दोषाःअपि प्रतीयाः अपि गुणाः निरवद्याः स्युः भवति यत् यतः प्रेम्णः तद्दत्त कष्टशतम् प्रियजन प्रदत्तसहस्र प्रति कूलाचरण मपि अमृतायते परममुपादेयं प्रतिभाति, यतः प्रेम्नः कारणात् तद्दोष कणिका प्रियतमस्य दोषलेशमपि न सह्या सहनीया न भवेत् । आत्म देहंत्यक्त्वा सर्ववल्लभं निजशरीरं त्यक्त्वापि यं प्रियतमं विहातुं परि-

---

प्रिय सखि ! तुम्हारे अमृतमयीवाणी द्वारा प्रेम का जो लक्षण प्रकटित हुआ उसका सारार्थ इस प्रकार है जिससे प्रियतम के दोष में गुण प्रतीति होती है, प्रियतम यदि शत शत दुःख प्रदान करे तो वह भी जिसके निमित्तसे अमृत के समान वोध होता है, जिससे प्रिय तम के अल्पमात्र दुःख भी सहन नहीं किया जा सके, निज देह त्याग कर भी जिसको छोड़ने की शक्ति नहीं होती है, जो प्रियतम की महि- मा न होने पर भी अनुपम महिमा का अनुभव पगपग पर कराते रहते

प्रेमा स एव तमिमं दधतो त्वमेव
राधे श्रुता खलुमयैव तथैव दृष्टा ॥६७॥
प्रेमीहरि र्नहि भवेदिति सत्यमेव
तच्चेष्टितै रनुमिमे तमिमे वदन्ति ।
प्राणा मम त्वदनुतापदवाग्निदग्धाः
सख्यस्तवात्र निखिला अपि यत् प्रमाणम् ॥६८

त्यक्तु न ईष्टे समर्थो न भवेत्, यःप्रेमा प्रियस्य ममतास्पदस्य असन्तम् अपि रिक्तमपि महिमानम् महत्त्वं अनुपमम् तुलना रहितं उच्चैः सर्वोत्कर्षैः सहसा अतर्कितमेव प्रत्याययति बोधयति स एव प्रेमा, मधुरं सम्बोधयति राधे, तम् इमं प्रेमाणं त्वम् एव दधती खलु इति यथैव हैमवती समायां कैलास शिखरे रम्ये श्री शिव पार्वती सभायां श्रुता, तथैव तेनैव प्रकारेण इह तव सकाशे दृष्टा ॥६६॥६७॥

देवीजन स्वाभिप्रायं प्रकटयति प्रेमीति, हरि परममनोहरः श्रीकृष्णः प्रेमी प्रेमवान् नहि भवेत् तस्य हृदये ममत्वाभावात् इति एवम्विध कथनं सत्यम् यथार्थं एव नतु आरोपितम् । यत् यस्मात् कारणात् तच्चेष्टितैः तस्य श्रीकृष्णस्य चेष्टितैः आचरणैः तं हरिं प्रेमरहितम् ममताशून्यं अनुमिमे, अनुतापःएव दवाग्निः तेन दग्धाः इमे ममप्राणाः च वदन्ति, न केवलं मम प्राणाः एव वदन्ति, अपितु तव निखिलाः

हैं, उसका नाम ही प्रेम । राधे ! तुम यथार्थ ही प्रेमवती हो, यह प्रेम केवल तुम्हारेमें ही है, मैंने हैमवती की समामें जिस प्रकार सुनी थी उसी प्रकार ही देखा ॥६६॥६७॥

सखि ! हरि प्रेमी नहीं है, यह सत्य ही जानना उनके सब कार्य से ही में यह अनुमान कररही हूँ, और तुम्हारे अनुताप रूप दावाग्नि से तप्त होकर मेराप्राणभी ऐसा कहता है, एवं तुम्हारी सखी

यच्च त्वयोक्तमिदमेव मनोगतं मत्
प्रेष्ठस्य तत्तु वयमत्र कथं प्रतीमः ।
नो तन्मुखात् त्वमशृणोर्न च तस्य सख्यु
स्तौ वा जनुष्यभवतां क्वनु सत्यवाचौ ॥६६॥
यर्ह्येव यद् यदयि मत्प्रियचेतसि स्यात्
तर्ह्येव तत्तदखिलं सहसैव वेद्मि ।

सर्वाः अपि सख्यः विश्वासभूमयः अत्र अस्मिन् मदुक्तविषये प्रमाणम् एव, ॥६८॥

श्रीभानुनन्दिन्याः प्रागुक्त वचने सन्देहमुत्थाप्य देवीजनःप्रमाणं पृच्छति यच्चेति, त्वया भानुनन्दिन्या यत् च उक्त प्राक् कथितं, किं तत् कथनं तदाह"मत् प्रेष्ठस्य मम भानुनन्दिन्याः प्रेष्ठस्य प्राणवल्लभस्य श्रीकृष्णस्य मनोगतम् हार्द्द इदम् एवनतु अन्यत्, तत् कथनं तु कथम् केन प्रकारेण वयं श्रोतारः प्रतीमः विश्वसिमः। त्वंश्रीराधा, तन्मुखात् स्वोक्त वचनंतस्य श्रीकृष्णस्यमुखात् कथनात् नो न अश्रृणोः श्रुतवती, नच तस्य श्रीकृष्णस्य सख्युः विश्वासप्रात्रस्य सुवलादेः मुखात् अश्रृणोः श्रुतवती, अतः स्व कल्पितमेव त्वत् कथनं प्रतिभाति । तौ श्रीकृष्णतत् सख्यौ वा अत्र अस्मिन् जनुषि जन्मनि क्वनु कुत्रापि सत्यवाचौ सत्य वादिनौ अभवताम् ॥६६ ।

वृन्द भी इस विषय में प्रमाण स्वरूप है, ॥६८॥

और तुमने कहा कि मेरे को रासादि में परित्याग करने का अभिप्राय है। इस प्रकार है, उसको हमसव कैसे विश्वास कर सकते हैं। तुमने उनके मुखसे अथवा उनके किसी सखा के मुखसे वह सव नहीं सुना, उन सवके मुखसे सुनने से ही क्या होगा, इस जन्मके मध्य में उनसव ने कव सत्य कहा है ६६

राधे विदुष्यसि किमच्युतयोगशास्त्रं
शक्नोषि येन परकाय मनः प्रवेष्टुम् ॥१००॥
देवीजनोऽस्य विरताच्युतयोगसिद्धि
व्यग्रस्तथा कथमहो वत मनुषी स्याम् ।
यत् पृच्छसीदमयि वक्तुमशेषमीशे
चेद् विस्वसिष्यपरथा तु कथा वृथैव ॥१०१॥
प्रत्यायनेऽस्ति यदि युक्तिरति प्रभावः

देवीजनस्य वचनं निशम्य श्रीगान्धर्विका कथितवती यर्हीति। हे सखि ! मत्मम प्रियस्य प्रियतमस्य श्रीकृष्णस्य चेतसि अन्तः करणे यदि यस्मिन् एव समये यत् यत् अपि स्यात् उदेति, तर्हि तस्मिन्नेव समये नतु विलम्वेन तत् तत् अखिलं सर्वमेव सहसा तत् क्षणात् अतर्कितमेव अहं वेद्मि, एतद् वचनं श्रुत्वा कथोपकथनरतः देवाङ्गनात्रेश विभूषितः श्रीकष्णः उवाच, । हे राधे ! अच्युत योगशास्त्रम् अच्युतेन श्रीकृष्णेन समं योगस्य मिलनस्य उपायनिरूपणं यत्र तत् शास्त्रं किं विदुषी जानासि असि, येन उपायेन परकायमनः परस्य प्रियतमस्य श्रीकृष्णस्य कायं मनः च प्रवेष्टुं शक्नोषि ॥१००॥

देवीजनस्यालापनं श्रुत्वा श्रीराधिका प्रत्युत्तरयति, देवीजन इति ॥ श्रीगान्धर्विका उवाच त्वं स्वर्लोक निवासी देवीजनः, अतः

तव श्रीराधिका वोली, सखि मेरे प्रियतम के चित्त में जव जैसा भाव उठता है, मैं तत् क्षणात् वे सवभाव को जान जाती हूँ। देवाङ्गना वेषधारी कृष्ण उसके उत्तर में बोले सखि राधे ! तुमनेक्या अच्युत योग शास्त्र का अध्ययन किया है ? जिससे दूसरे के शरीर मन में प्रवेश किया जा सकता है ॥१००॥

उत्तर में राधिका बोली, तुम देवी हो, अतएव अच्युत योग

किं वालि ते कथमिदं न वयं प्रतीमः ।
नो चेद् प्रियस्तव गुणार्णव एव किन्तु
प्रेमी भवेदयमिदन्तु मतं तवैव ॥१०२॥
प्रेष्ठः परो भवति तस्य मनो न बुध्य
इत्येव भात्यनुभवाध्वनि हन्त यस्याः ।

अस्मात् कारणात् अविरता च्युतयोग सिद्धिव्यग्रः अविरतम् निरन्तरम् अच्वुतस्य श्रीकृष्णस्य परिपूर्णस्य योगस्य संयोगस्य सिद्धौ प्राप्तौ व्यग्रः उत्कण्ठितः असि भवसि। अहो वत साश्चर्य्यं खेदे, मानुषी अहं कथं केन प्रकारेण तया तदनुरूपा स्याम् भवेयम्॥१०१॥

श्रीभानुनन्दिनींप्रत्युत्तरयन्ति देवीजनःप्रत्यायनेइति । देवाङ्गणा वसन विभूषितः श्रीकृष्णः कथयति, हे आलि ! सखि ! यदि मम प्रत्यायने स्वोक्ति विषये विश्वासोत् पादने युक्तिः सोपपत्तिः स्यात्, किं वा ते तव अति प्रभावः अतिशय सामर्थ्यम् अस्ति विद्यते, तर्हि तदा कथम् केन प्रकारेण इदं वचनं वयं देवीजनाः न प्रतीमः विश्वसिमः नो चेत्, अथवा तव प्रियः गुणार्णवः गुणसागरः एव किन्तुअयं तव प्रियः प्रेमी प्रेमवान् भवेत्, इदं अनेन प्रकारेण कथनं तुतव एव स्वीयमतं ॥१०२॥

प्रत्युत्तरे श्रीराधिका वदति प्रेष्ठः इति । देवीजनस्य कथनोत्तरे श्रीराधिका जगाद,त्वया परिहासविदा परिहास प्रवीणया अद्य साम्प्र-

---

सिद्धि के लिये तुम सदा व्यग्र हो, में मानुषी हूँ सुतरां तुम्हारे तरह कैसे मैं ही सकूंगी । प्रियतम का मनो भाव क्याहै, वह कैसे मैं जान सकती हूँ, यदि मेरी वात पर तुम विश्वास करो तोसव मैं कह सकती हूँ, अन्यथा वृथा कथासे कुछ प्रयोजन नहीं है, १०१

तव देवाङ्गणा वेशधारी श्रीकृष्ण ने कहा, अयि राधे ! यदि

सैवोच्यतां नु परकाय मनः प्रवेश
विद्यावतीति परिहास विदा त्वयाद्य ॥१०३॥
राधे तदा विलपितं किमिति त्वयोच्चै
र्ज्ञात्वा हृदस्य सुखिनी कथमेव नाभुः ।

तम् सा एव परकाय मनः प्रवेश विद्यावती उच्यतां भण्यतां, यस्याः ललनायाः परः परमःप्रेष्ठः प्रियतमः भवति; अथच तस्य प्रियस्यमनः अन्तः करणं न वुध्ये, इतिएव अनुभवाध्वनि स्वानुभवपथि भाति ॥

श्रीभानुनन्दिन्याः कथनोत्तरं देवाङ्गना पटावृतः श्रीकृष्णो जगाद, हे बृषभानुनन्दिनि ! राधे ! तदा परित्याग समये त्वया किं मिति कथं उच्चैः अत्युच्चरवैः विलपितम् विलापं कृतं ? अस्य प्रिय तमस्य श्रीकृष्णस्य हृद् अन्तः करणं ज्ञात्वा अनुभूय कथं सुखिनी उल्लसिता नाभूरेव ?एतदुत्तरे श्रीराधिका निगदितवती हे देवि त्वया यदुक्तं तत् सर्वं सत्यं यथार्थं ब्रवीषि, अपितु अवधेहि सावधानतया श्रृणु, तददर्शनस्य प्रियतमस्य श्रीकृष्णस्य अदर्शनस्यका अपि अचिन्त्या

तुम युक्ति द्वारा मुझे विश्वस्त करसको तो क्यों मैं विश्वास नहीं करूँगी, यदि न सकी तो, तुम्हारे प्रिय गुणार्णव तो है, किन्तु प्रेमी नहीं कहा जासकता है ॥ १०२॥

श्री राधिका बोली, सखि ! तुम परिहास करनेमें चतुरहो, जो अपर को प्यार करती है, अथच उस का मन नहीं जानती है, ऐसा ही जव अनुभव कर रही हो, फिर उसको दूसरे के काय-मन-वाक्य में प्रवेश विद्यामें पारदर्शिनी कह कर परिहास कर रही हो ॥१०३॥

देवाङ्गना वेशधारी कृष्णने कहा हे राधे ! तुम कृष्ण के मन को जान कर भी न देख कर दुःखी वन गई और उच्चैः स्वरसे क्यों रोदन करने लगी ? राधिका वोली तुमने सत्य कहा ! किन्तु सुनो, तव मेराइस प्रकार विवेक न था, कारण उनका अदर्शन की ऐसी एक

सत्यं ब्रवीष्यपि तु देव्यवधेहि कापि
शक्ति विवेकभिदभूत्तददर्शनस्य ।।१०४।।
त्वं वेत्सि तन्मन इहास्तु न मे विवादो
गान्धर्विके तव मन स हि वेद नो वा
वेदेति किं भणसि भोः श्रृणु यद्रहस्यं
तत्त्वं त्वया यदभवं तरलीकृतैव ।।१०५।।
राधे जनोऽयमयि यत् तरलीकृतोऽभूत्
प्रेम्ना त्वयैव यदपृच्छमिदं स्वधार्ष्टचम् ।

विवेक हारिणी शक्तिः अभून् इति कारणात् मया तथा तेन प्रकारेण अनुष्ठितम् ।।१०४।।

प्रत्युत्तरे देवजनोऽवदत् त्वमिति । हे गान्धर्विके, त्वं तन्मनः तस्य श्रीकृष्णस्यमनः अन्तः करणंवेत्सि जानासि, इह अस्मिन् विषये मे मम विवादः मतानैक्यं न अस्तु, सः श्रीकृष्णः तव मनः अन्तः करणम् वेद नो वा वेत्ति न वा ? एतदेव मम जिज्ञास्यं वर्त्तते । उत्तरे श्रीराधिका प्राह सः श्रीकृष्णः मम मनः अन्तः करणं वेद इति किं भणसि गदसि भोः ! यत् रहस्यं गोपनीयं स्यात् वर्त्तते, तत् त्वं शृणु, यत् यस्मात् अहं त्वया तरलीकृत एव अभवम्, अतः ब्रवीमि ।।१०५।।

विवेक हारिणी शक्ति हुई थी जिससे मैं रोने लग गई थी ।।१०४।।

देवाङ्गना वेषधारी कृष्णने कहा हे गान्धर्विके, तुम उनका मन जानती हो इसमें मेरा विवाद नहीं है, किन्तु वे तुम्हारे मन को जानते हैं या नहीं ? यह ही जिज्ञास्य है ! तब राधिका बोली–वे मेरा मन जानते हैं, यह बात क्यों पुछती हो ? इस में जो कुछ रहस्य है, उसे सुनो ! कहने की बात नहीं है, तथापि तुम्हारे प्रेम से वशीभूत होकर कहती हूँ ।।१०५।।

शुश्रूषते श्रवणमस्य यथा रहस्यं
वक्तुं तथार्हसि न गोपय किञ्चनापि । १०६॥
अन्योन्यचित्त विदुषौ नु परस्परात्म
नित्यस्थितेरिति नृषु प्रथितौ यदावाम् ।
तच्चौपचारिकमहो द्वितयत्वमेव
नैकस्य सम्भवति कर्हिचिदात्मनो नौ ॥१०७॥

अमराङ्गना पटावृतः श्रीकृष्ण जगाद राधे इति । अयि राधे ! हे वृषभानुनन्दिनि ! अयं जनः मव सम्मुखवर्त्तिदेवीजनः यत् यस्मात् कारणात् त्वया एव प्रेम्ना तरलीकृतः आर्द्रीभूतःअभूत् तत् तस्मात् कारणात् सधाष्टर्य्यम सङ्कोचं विहाय इदम् अपृच्छम् पृष्टवानस्मि यथा येन प्रकारेण अस्य देवीजनस्य मम श्रवणैः श्रवणेन्द्रियंरहस्यंगुह्यं वाक्यं शृषते श्रोतुं इच्छति तथा तेनैव प्रकारेण वक्तुं क गदितुं अर्हसि, किञ्चन अपि न गोपय गोपनं मा कुरु इति ॥१०६॥

दवीजनस्य प्रार्थनां निशम्य श्रीगान्धर्विका प्राह अन्योन्येति । परस्परात्मनित्यस्थितेः परस्परात्मनि राधा कृष्णयोरात्मनि नित्यम् अप्रच्चुतम्अवस्थानात् आवाम् उभयोः नु अन्योन्यचित्तविदुषौ परस्पर चित्तज्ञौ इति यथानृषु मानवेषु मध्ये प्रथितौ ख्यातौ इति अहोआश्चर्य्य मेतत्, ततचकथनं औपचारिकम् गौणमेव आरोपितम् एकस्य आत्मनः

उत्तर में देवाङ्गना वेषधारी कृष्णने कहा राधे ! मैं तुम्हारे प्रेम में विभोर होकर ही धृष्टताके साथ प्रश्न कररहा हूँ। जिसप्रकार रहस्य सुनने की मैं अभिलाषी हूँ, ठिक उस प्रकार कहना ही तुम्हारे उचित है, देखो, जैसे कुछ गोपन न करना ॥१०६॥

राधा बोली, हम दोनों के मन, हम दोनों ही जानते हैं, और दोनों के अन्तर में नित्य ही दोनों रहते हैं, ऐसा जो प्रवाद है, वहभी

एकात्मनीह रसपूर्णतमेऽत्यगाधे
एकासु संग्रथितमेव तनुद्वयं नौ ।
कस्मिंश्चिदेक सरसीव चकासदेक
नालोत्थमब्ज युगलं खलु नीलपीतम् ।।१०८
यत् स्नेहपूरभृतभाजनराजितैक
वर्त्त्यग्रवर्त्त्यमलदीपयुगं चकास्ति ।

नौ आवयोः राधाकृष्णयोः द्वितयत्वं कदाचित् न सम्भवत्येव ।।१०७।।

सोपमया स्वोक्ति विशदयति एकात्मनीति । कस्मिश्चित् अनिर्वचनीय एक सरसि एकस्मिन् एव सरोवरे खलु चकासत् शोभितं एक नालोत्थं नीलपीतम् अब्जयुगलम् इव इह रस पूर्णतमे लीलाकल्लोल वारिधौ अत्यगाधे एकात्मनि एव नौ आवयोः राधाकृष्णयोः तनुद्वयम् एकासु संग्रथितम् एकसूत्रेण आवद्धम् वर्त्तते ।। १०८।।

सार्थक दृष्टान्तेन स्वरूपानुभावं वर्णयति यदिति । स्नेह पूर भृतभाजनराजितैकवर्त्त्यमलदीपयुगं यथा घृतपरिपूर्णदीपपात्रस्थैक वर्त्त्यग्रवर्त्ति यत् अमलोदीपयुगंप्रदीप्त प्रदीपयुगलं तत् तथा च परोक्षम्

आरोप मात्र है, ठीक नहीं है, कारण हम दोनों की एक आत्मा है, एक आत्मा के लिए दो होना किसी प्रकार सम्भवनहीं है, ।।१०७।।

जैसे किसी एकसरोवर में एकही नाल से उत्थित नील व पीत वर्ण दो कमल विकसित होते हैं, वैसे ही अतिशय, अगाध, रस परिपूर्ण एक आत्मामें हम दोनों के नील एवं पीतवर्ण दो तनु एकही प्राण संग्रथित होकर है। १०८

और भी जैसे तेल परिपूर्ण पात्रस्थित एक वर्त्ती के दोनों मुख प्रज्ज्वलित दोनों के मूल देशस्थ अन्धकार का विनाश करते रहते हैं, उसी प्रकार एक आत्मामें व एक प्राण में नील व पीतवर्ण दोनों तनु

तच्चेतरेतरतमोऽपनुदत् परोक्ष
मानन्दयेदखिल पार्श्वगताः सदालीः ॥१०६॥
यद्यापतेद्‌विरह मारुत एतदात्त
कम्पं भवेद् युगपदेव भजेच्च मूर्च्छाम् ।
व्यग्रा सदाल्यथ तदावरणे यतेत
तत् सुस्थयेच्च सुखसङ्गगतं विधाय ॥११०॥

अज्ञातसारेणैव इतरेतरतमोपनुदन् अन्योन्यान्धकार विनाशि सन् सदा अखिल पार्श्वगताः निखिला समीपस्थाःआलीः सखीः आनन्दयेत् उल्लसयेत् ॥१०६॥

सदृष्टान्तेन सखीनाम् स्वभावं वर्णयतियदीति । यदि अकस्मात् ननु सचराचरं विरहमारुतः विरह पवनः आपतेत् आगच्छेत् तदा एतत् प्रदीपरूपं तनुद्वयंराधा कृष्णाख्यं आत्तकम्पं व्यग्रयुक्त हृदयं भवेत् एततु स्वाभाविकमेव अपरञ्च युगपदेव समकालमेव मूर्च्छा निर्वाणतां भजेत् प्राप्नुयात् अनन्तरं यर्हि तस्मिन्नेव समये सदाली सदापार्श्वगता सखी व्यग्रा सती तदावरणे विरह पवनात् प्रदीपं रक्षयितुं यत्नेन प्रयत्न शीला भवेत् तत् तनुद्वयं प्रदीपरूप राधाकृष्णाख्यं सुखसङ्गगतं विरह भवनाभावात् उल्लासपरिपूरितस्थानं विधाय प्राप्य सुस्थयेत् आनन्दयेत् च ॥११०॥

परस्पर के अन्धकारका नाश कर पार्श्वस्थिता सखीगण को आनन्दित कररहे हैं ॥१०६॥

सखि ! जव विरह रूप पवन से हमदोनों के तनुरूप प्रदीपद्वय कम्पित होकर मूर्च्छित हो जाते हैं, तव निपुणा सखीगण अतिशय व्यग्रता के साथ उस विरह पवन को रोकने के लिए यत्नवती होकर उभय को उभय के सङ्ग सुख लाभ कराकर सुस्थ करती हैं, ॥११०॥

सन्दर्शितं तदिदमद्य रहस्यरत्नं
स्वखान्त सम्पुटवरं स्फुटमुद्‌घटय्य ।
सन्देहसन्तमसहारि तवास्तु भव्ये
हृद्येव धार्य्यमनिशं न वहिः प्रकाश्यम् ॥१११॥
कृष्णोजगाद सखि यद् यदिदं त्वयोक्तं
तत्त् स युक्तिकमधारयमेव सर्वम् ।

उपसंहारे प्रस्तुत विषयस्य दुर्ज्ञेयत्वं दौर्लभ्यं सवर्था गोपनीय त्वञ्चोक्त्वा स प्रश्रयं निवदेयति सन्दर्शितमिति हे भव्ये परममङ्गला लये ! अद्य साम्प्रतम् इदं वर्णितं रहस्यरत्नं गोप्यनिधिं स्वखान्त सम्पुटवरं निजहृदयपेटिकां उद्‌घटय्य अनावृतं विधाय स्फुटं उत्तम रूपेण सन्दर्शितम् । तत् तव देवीजनस्य सन्देहसन्तमसहारि संशयतमो विनाशि अस्तु भवतु एतत् सदा हृदि एव अनिशं निरन्तरं धार्य्यं धारणीयं नतु कदाचित् नवा वहिः वाण्या नच प्रकाश्यम् कदापि प्रकाशनीयम् ॥१११॥

तदा देवललनापटावृतस्य श्रीकृष्णस्योक्तिं प्रदर्शयति कृष्ण इति । देवाङ्गनाभिनयवान् अवगुण्ठितः कृष्णः श्रीभानुनन्दिन्याः कथनस्योत्तरे ज़गाद, हे सखि ! यत् यत् इतः प्राक् त्वयाउक्तं भणितं, तत् तत् सर्वं सयुक्तिकम् युक्ति युक्तमेव अधारयम् अवधारयम् । अहो !

हे कल्याणि ! मेरा हृदय रूप सम्पुट को खोलकर तुम्हारे सन्देह रूप अन्धकार को दूर करने के लिए यह जो रहस्य रत्न समूह का प्रदर्शन मैंने कियाहै, इसे तुम निरन्तर अपने हृदयमें धारण करना जैसे कभी भी वाहर प्रकट न करना ॥१११॥

उत्तर में देवाङ्गना वेशधारी कृष्णने कहा तुमने जो कुछ कहा, वे सव ही युक्ति युक्त मानकर अवधारण किया है, किन्तु क्या करूँ ?

चेतस्तु मे शठमहो हठवर्त्त्यवश्यं
तत्ते परीक्षितुमिहेच्छति किं करोमि ॥११२॥

त्वं वर्त्तसेऽत्र स तु साम्प्रत मात्मतात
गेहे कदाचिदवनाय गवां वनेऽपि ।
आत्मैक्यमालि युवयो र्यदिह प्रतीम
स्तन्न् किं परीक्षणमृतेसमुपैति सिद्धिम् ॥११३॥

यैव स्मृतिः सुमुखि यस्य यथा यदा ते
सैवास्य चेद् भवति र्तांह तथा तदैव ।

आश्चर्यकरमिदं, मे मम शठं निर्वोधं हठवर्त्ति अवश्यं चेतः तु ते तव तत् पूर्वोक्तसमूहं इह अस्मिन्नेव समये स्थाने च परोक्षितुम् साक्षात् कर्त्तुं इच्छति अहं किं करोमि वद ? ॥११२॥

संशयवीजं प्रकटयति त्वमिति, त्वम् श्रीभानुनन्दिनी अत्र मम् सन्निकटे वर्त्तसे, तव प्रियतमः सः श्रीकृष्णः साम्प्रतम् अस्मिन्नेव समये आत्मतातगेहे निज पितृचरणस्य गृहे अथवा कदाचित् गवाम् अवनाय सम्भालनाय वने गोचारणस्थाने वर्त्तते, हे आलि ! हे सखि ! युवयोः राधाकृष्णयोः यत् आत्मैक्यम् आत्मनः एकता इह प्रसङ्गे प्रतीमः तत् किं परीक्षणम् ऋते विना सिद्धिं सुदृढ़तां समुपैति याति ? ॥११३॥

स्वाभिलाषं पूरयितुं श्लक्ष्णया गिरा अनुनयति येति । हे

तुम्हारी येसव कथा की परीक्षा साक्षात्में करने के लिए मेरा अवाध्य चित्त वड़ाहठ कररहा है ॥११२॥

तुम यहाँपर हो, तुम्हारे प्रियतम सम्प्रति पितृगृह में अथवा गोचारण के निमित्त वनमें है सखि ! तुम दोनों की जो एकात्मता का विश्वास मैंने किया है, उसकी परीक्षा के विना दृढ़ नहीं हो सकता है ॥११३॥

प्रत्यक्षमेव यदि तां कलयामि सम्प्र
त्यत्रैव वा सखि तदैव दधे प्रतीतिम् ।।११४।।
दूरेऽथवा निकट एव सते प्रियः स्या
देहीह सत्वरमिति स्मृतमात्र एव ।
आयाति चेत् तव समक्षमयं तदावा
मात्मयैक्य मित्यवगमो धिनुयात् सदा माम् ।११५
विघ्नः क्वचित् तु गुरुनिघनतयापि दैवाद्
दैत्यागमादपि कुतश्चन वापि हेतोः ।

सुमुखि ! शोभनवदने श्रीराधे ! यदा यस्मिन् समये ते तव यस्य वस्तुनः या एव स्मृतिः यथा येन प्रकारेण भवेत् तदा तस्मिन् समये अस्य श्रीकृष्णस्य सा स्मृति एव तथा एव तेन प्रकारेणैव भवति चेत् सम्प्रति अधुना एव वा प्रत्यक्षं नयन गोचरी भूतं यदि तां स्मृतिं कलयामि अवगच्छामि, तर्हि तदा एव प्रतीतिं विश्वासं दधे एव ।।१२४

स्वाभीप्सित विषयेस्वोपपत्ति दर्शयति दूरे इति । ते तव प्रियः श्रीकृष्णः दूरे अथवा निकटे एव स्यात् "इह सत्वरं एहि " इति स्मृत मात्रः एव स्मरणमात्रेणैव तव समक्षम् समीपं आयाति आगच्छति चेत्, तदा वां युवयोः आत्मैक्यम् इति अवगम बोध. मां सदा नित्य मेव धिनुयात् आनन्दितां कुर्य्यात् ।।११५।।

हे सुमुखि ! जब तुम्हारी स्मृति जिस वस्तुकी होती हैं, उनको भी ठीक उस समय उस वस्तु की वैसी स्मृति देखी जाय, तब ही मेरा विश्वास दृढ़ होगा ।।११४।।

तुम्हारे प्रिय निकट में हो अथवा दूरमें हो यहाँपर सत्वर आ जाओ । तुम्हारे ऐसास्मरणसे ही यदि सत्वर आकार उपस्थित होते हैं, तब तुम दोनों की आत्मा एक है जानकर सुखी होंगी ।।११५।।

अन्योन्यमप्यतनु वां स्मरतो यदिस्या

न्नो सङ्गति स्तदिहनास्तितमां विवादः ॥११६

यद्यप्यमुं गुरुपुरे सखि सङ्कुचन्ती

नैवा ह्वयस्यभिसरस्यत एव दूरम् ।

किञ्च कदापि न तदागममीहसे त्वं

स्वार्थंन्त्विदन्तु नितरां मदिराक्षि विद्मः ॥११७

स्वोक्तौ सामोपाय संदिशति विघ्न इति । अन्योन्यम् उभयोः परस्परं अतनु वहुतरं यथास्यात् तथा स्मरतोः अपि वां युवयोः यदि कदाचित् दैवात् अदृष्टवशात् क्कचित् गुरुनिघ्नतया गुर्वाधीनतया अपि कुतश्चन दैत्यागमनात् वा अपिहेतोः विघ्नः स्यात् मिलने वाधा स्यात्, सङ्गतिः मेलनं युवयोः परस्परं नो न भवति, तत् तदा तस्मिन् विषये मम विवादः आपत्ति नास्तितमाम् ॥ ११६॥

स्वाभीष्ट सिद्धये श्रीगान्धर्विकायाः समीपे मधुरयागिरा देवी जनो निवेदयति यदीति द्वयेन यद्यपि सम्भावयामि हे सखि राधे ! त्वं गुरुपुरे आर्य्यायाः गृहे सङ्कुचन्ती लज्जिता सती अमुं कान्तं श्रीकृष्णं नैव आह्वयसि नाकारयसि, अतएव अस्मात् कारणात् दूरम् सङ्केत-स्थलं अभिसरसि अभिसारं करोषि, किञ्च पुनः कदापि कस्मिश्चिदपि

किन्तु यदि तुम दोनों परस्पर को स्मरण करने पर भी दैवात् गुरु परवशता, किम्वा दैत्या गमन, अथवा अन्य किसी हेतु से विघ्न होने के कारण तुम दोनों का मिलन नहीं हो तो उसमें मेरा किसी प्रकार अविश्वास नहीं होगा ॥११६॥

हे सखि ! यद्यपितुम गुरुगृह में सङ्कुचित होकर प्रियको बुला नहीं सकती, इसलिए स्वयं अभिसार करती हो, और स्वार्थ के लिए उनके आनेकी इच्छा कभी भी नहीं करती हो, ये सव हमसव उत्तम

कृष्णप्रिये सखि तदप्यधुना ममानु
रोधादमुं स्मर स एतु सुखं तनोतु ।
नात्रास्ति ते गुरुजनागमनावकाशो
मत् संशयोत्थमपि खेदमपाकरोतु ।।११८।।
इत्यर्थिता सरभसं वृषभानुकन्या
यन्यायमाह नय मा हसनीयतां माम् ।

समये स्वार्थं तु स्व सुखार्थं तु न तदागमम् तस्य कान्तस्य आगमनम् न ईहसे न वाञ्छसि इदं तु हे मदिराक्षि ! हे सुलोचने ! वयं देवीजनाः नितरां विश्वस्तरूपेण विद्मः जानीमः तदपि तथापि, हे सखि ! कृष्ण प्रिये ! मम देवीजनस्य अनुरोधात् सम्मानार्थं अधुना अस्मिन्नेव समये अमुं प्राण वल्लभं श्रीकृष्णं स्मर, सः श्रीकृष्णः तव स्मरणप्रभावेन एतु आगच्छतु, सुखं उल्लासं तनोतु विस्तारयतु सङ्कोचमस्मिन् विषये मा कुरु, त्वरितं मदुक्तमाचर, अत्र ते तव गुरु जनागमनानवकाशः गुरु जनानां आर्याणां आगमनस्य अवकाशः सम्भावना न अस्ति न विद्यते, अतः हेतोः मात् संशयोत्थम् अपि खेदम् दुःखं अपाकरोतु सखीति शेषः ।।११७।।११८।।

सकौतुकंप्रार्थनेन श्रीभानुनन्दिनी सन्यायं वदति इतीति, दुर्ल्लोक ललनावेशविभूषितेन श्रीकृष्णेन इति पूर्वोक्त प्रकारेण सरभसं परिहास

रूपसे जानतीं हूँ, तथापि हे मदिराक्षि ! हे कृष्णप्रिये ! मेरे अनुरोधसे सम्प्रति उनको एक वार स्मरण करो। वे पधारने से हम सव सुखी होंगे। विशेषतः सम्प्रति तुम्हारे गुरुजनों के यहाँपर आने की सम्भावना नहीं हैं। तुम निः सङ्कोच से मेरा संशयोत्थ दुःख दूर करो ११७

देवाङ्गना वेशधारी श्रीकृष्ण कौतुकके साथ प्रार्थना करने पर श्रीवृषभानुनन्दिनी ने युक्तिपूर्ण वाक्यसे वोली, हे सखि ! मुझे हास्या-

ब्रूषे यथैव करवाणि तथैव नो चेत्
प्रेमैव धास्यति रुजं चिरमात्तलज्जः ॥११९॥
वृन्दारकेऽड्‌च भगवन् मदभीष्टदेव
श्रीभास्कर त्रिजगदीक्षणसौख्यदायिन् ।
मत् सर्वकामद कृपामय पद्मिनीश
सत्यानृत्याद्यखिल साक्षितया प्रतीत ॥१२०॥
गान्धर्विका गिरिधरौ भवतः सदैका
त्मानावितीयमनृता न यदि प्रथास्ति ।

पूर्णं अर्थिता प्रार्थिता श्रीवृषभानु कन्या श्रीराधा सन्यायं सोपपत्तिकं आह हे सखि ! मां हसनीयतां हास्यास्पदतां मा नय, यथैव ब्रूषे, चेत् यदि तथैव तदनुरूपमेव नो न करवाणि, मम प्रेमा कान्त विषयिनी ममता एव आत्तलज्जः लज्जितः सन् चिरं सदैवमां रुजं पीड़ां धास्यति दास्यति ॥११९॥

अनन्तरं स्वाभीष्टसिद्धये श्रीभानुनन्दिन्याः स्वेष्टदेव प्रार्थनं विवृणोति वृन्दारकेति युग्मकेन। श्रीभानुनन्दिनी दिनमणि प्रार्थयति हे वृन्दारकेड्‌य ! सर्वदेववन्द्य ! भगवन् गभस्तिमालिन् ! मदभीष्ट-देव मदाराध्यदेव ! श्रीभास्कर। त्रिजगदीक्षण सौख्य दायिन् मद् सर्व कामद, कृपामय ! पद्मनीश ! सत्यानृताद्यखिल साक्षितया प्रतीत !

स्पद न करना, तुम जो कुछ कहती हो उसको यदि मैं कर न सकूँ तो मेरा प्रेम ही लज्जित होकरमुझे चिरकाल दुःखित करता रहेगा ॥

तदनन्तर श्रीराधिका यह कह कर प्रार्थना करने लगी, हे देवाराध्य, हे भास्कर, हे त्रिभुवन–दर्शन–सुखद ! हे सर्व कामद, हे कृपामय ! हे पद्मनीश, हे अखिल सत्य–मिथ्या के साक्षी स्वरूप !

सम्प्रत्यसौ गिरिधरोऽत्र तदाददानो
मन्नेत्रयोः परिचयं स्वमुदेऽभ्युदेतु ॥१२१॥
उक्त्वेदमेव वृषभानुसुतात्मकान्तं
ध्यातुं समारभतमीलित नेत्रयुग्मा ।
सा योगिनीव विनिरुद्धहृषीकवृत्ति
रास्ते स्म यावदविखण्डितमौनमुद्रा ॥१२२॥

इति सम्वोध्य प्रार्थयाति "गान्धर्विका गिरिधरौ सदा एकात्मानौ भवतः" इति इयं प्रथा जन प्रसिद्धि यदि अनृता मिथ्या नअस्ति न भवति तदा सम्प्रति अधुनैव असौ गिरिधरः स्वमुदे मन्नेत्रयोः परिचयम् आददानः सन् अभ्युदेतु मम नेत्र गोचरो भवतु ॥१२०॥१२१॥

श्रीवृषभानुसुतायाः ध्यान प्रकारं तत्फलञ्चाह उक्त्वेति द्वयेन, इदम् उक्त्वा पूर्वोक्त प्रकारेण श्रीभास्करं संप्रार्थ्य एव वृषभानुसुता निमीलित नेत्र युग्मा मुद्रित नयनासती आत्मकान्तं प्राण प्रेष्ठं श्रीकृष्णं ध्यातुं ध्यानं कर्त्तुं समारभत। सा श्रीभाननन्दिनी यावत् योगिनी इव विनिरुद्ध हृषीक वृत्तिःयोगिनी यथा इन्द्रियाणि निरुद्ध परमात्मनि मनः धारयति तद्वत् भानुनन्दिनी अपि संयतात्मेन्द्रिया अखण्डित मौन मुद्रा मौन व्रतञ्चावलम्व्य च आस्ते स्म, तावत् तस्मिन्नेव समये सः

गान्धर्विका व गिरिधर सर्वदाही एकात्मा है, यह वात् यदि सत्य हो तो इसी समय गिरिधर मेरे आत्मीय वर्ग को सुखी करने के लिए मेरे नेत्रगोचर हो जायें ॥१२०॥१२१॥

यह कह कर श्रीवृषभानुनन्दिनी स्वीय नेत्र युगल मुद्रित कर निज कान्त का ध्यान करने लगी, आपने जव योगिनी की भाँति इद्रियवृत्तियों को निरोधकर मौनावलम्वन करके रही, तो उस समय श्रीकृष्ण सहसा स्त्रीवेश परित्यागपूर्वक सखी गण को भ्रुभङ्गी द्वारा

तावद्विहाय सहसैव हरिः स योषि
द्वेशं सखीः स्वमखिलाः परिचिन्वतीस्ताः ।
भ्रू संज्ञयैव विदधन्निज पक्षपाते
चुम्बन् प्रियां मुहुरवारितमालिलिङ्ग ॥१२३॥
रोमाञ्चिताखिलतनुर्गलदश्रुसिक्ता
ध्यानागतं तमवबुध्य वहि विलोक्य

देवाङ्गनाभिनयपरायणः हरिः श्रीकृष्णः सहसा हठादेव योषिद्वेशं ललनावेशं विहाय त्यक्त्वा स्वं परि चिन्वतीः ताः अखिलाः सखीः भ्रूसंज्ञाया भ्रूसञ्चालनेङ्गितेन एव नतु वाक्येन निज पक्षपाते स्वपक्ष-पातिनीः विदधात् कुर्वन् सन् प्रिया श्रीभानुसुतां मुहुः पौन पुन्येन अवारितं निरर्गलं यथा स्यात् तथा चुम्बन् चुम्बन् पुरःसरं आलिलिङ्ग आलिङ्गितवान् ॥१२२॥१२३॥

अनन्तरं श्रीभानुसुतायाः अवस्थां वर्णयति रोमाञ्चितेति । तदा श्रीकृष्णस्य प्रेमालिङ्गनादिसंप्राप्त्यनन्तरं सा श्रीराधा रोमाञ्चिताखिल तनुः प्रेमपुलकायित सर्वाङ्गी तं श्रीकृष्णं प्राण प्रेष्ठं ध्यानागतम् तत्र मनः संयोगेन आगतं अववुध्य ज्ञात्वा इदन्तु न केवलं मनसि अपितु वहिः तं श्रीकृष्णं विलोक्य ध्यानानुरूपं दृष्ट्वा आनन्दलीनहृदया आनन्दनिमग्नचित्ता आसीत् । एषा खलु गलदश्रुसिक्ता अविरल प्रेमा

अपनी पक्षपातिनी कर प्रेयसी को मुहुर्मुहु अवारितभाव से चुम्बन व आलिङ्गन करन लगे ॥१२२॥१२३॥

उस समय श्रीराधिका सर्वाङ्गमेंरोमाञ्चित होकर ध्यान में प्रियतम के आगमन को अवगतहो गई, एवं बाहर भी प्राण रमण को देख कर अजस्त्र अश्रुधारा विसर्जन करते करते आनन्दमें लीन हो गई, वे उस समय में सत्य सत्यही एक योगिनी की भाँति निरञ्जन

आनन्द लीन हृदया खलु सत्यमेव
योगिन्यराजत निरञ्जन दृष्टिरेषा ॥१२४॥
संज्ञां क्षणादलभताथ पटाञ्चलेन
वक्त्रं पिधाय सुदृगातनुते स्म लज्जाम् ।
तं प्राह सैव ललिता किमहो विलासि
न्नागा अलक्षितमिह त्वमतीव चित्रम् ॥१२५॥
अन्तः पुरे कुलवधुकुलमात्रगम्ये
शक्तो न यत्र पवनोऽपि हटात् प्रवेष्टुम् ।

श्रुभिरभिषिक्ता सती सत्यम् वास्तविकमेव निरञ्जनदृष्टिः अञ्जन रहित नेत्रा ज्ञान नेत्रा योगिनी सङ्गमवती अराजत अशोभत ॥१२४॥

कृत्यन्तरं साभिनयं प्रस्तौति संज्ञामिति, सा श्रीभानुतनया क्षणात् तत् कालमेव संज्ञा चेतनतां अलभत, अथ अनन्तरं पटाञ्चलेन स्व वसनाञ्चलेन न त्वरितं वक्त्रं वदनं पिधाप आवृत्त्य सुदृक् शोभन नयनसा श्रीगान्धर्विका लज्जाम् सङ्कोचम् आतनुते स्म । तदा तस्मिन्नेव समये सा एव प्रसिद्धासखी ललिता तु तं श्रीकृष्णं प्राह अहो विलासिन् त्वं किम् अलक्षितम् अतर्कितं इह अस्माकम् अन्तः पुरे आगाः आगमन मिद अतीव चित्रम् आश्चर्य्यम् रसावहञ्च ॥१ ५॥

दृष्टि होगई, अर्थात् अश्रुजल से नयन युगल के अञ्जन धौत करणे गली ॥१२४॥

क्षण काल के वाद संज्ञा प्राप्त होनेपर वहसुलोचना वसनाञ्चल द्वारा अपना मुख को छिपाकर लज्जिता होकर रही, तव ललिता नागरवर को कहीः-अहो विलासिन् ! तुम अलक्षित में यहाँपर आगए हो, वड़ो ही आश्चर्य्य की वात है ॥१२५॥

तत्रेति यस्तु बतभीः पुरुषः स एष
गण्योऽति साहसिक शेखर एक एव ॥१२६॥
तत्रापि मद्विधसखोजनपालितायाः
साध्वीकुलाप्लवनकीर्त्तिसुरापगायाः ।
स्नात्वैव मित्रयजनाय कृतासनाया
स्तं ध्यातुमेव विनिमीलितलोचनायाः ॥१२७॥

कृष्णस्य साहसिकं कर्म दृष्ट्वा ललिता प्राह अन्तःपुरे इति । यत्र यस्मिन् कुलवधुमात्रगम्ये अन्तःपुरे पवन समीरणः अपि अन्यस्य का वार्त्ता हठात् अनुमतिं विना अतर्कितमेव प्रवेष्टुं न शक्तः समर्थो न भवेत्, तत्र तस्मिन्नेवावरोधे तु यः कोऽपि गतभीः साहसिकः पुरुषः एति आगच्छति सः पुरुषः एषः एव अतिसाहसिकशेखरः निर्भीक मूर्द्धण्यः गण्यः भवेत् ॥१२६॥

श्रीकृष्णमुपालम्भितुं प्रखराललिता सरोषवचनं प्राह तत्रापीति तत्र कुलवधुमात्रगम्ये दुर्गे अन्तःपुरे अपि मद्‌विध सखीजन पालितायाः अस्मद्विध विश्वस्त सखीजन रक्षितायाः साध्वीकुलाप्लवन कीर्त्ति सुरापगायाः साध्वीकुलानाम् पति व्रतानाम् आप्लवनं अवगाहनं यस्यां तथाविधा कीर्त्ति सुरापगा कीर्त्तिरूपा स्वर्नदी यस्याः तस्याः एव मित्र यजनाय सूर्य्यपूजनाय कृतासनायाः उपविष्टायाः, तं मित्र सूर्य्यंध्यातुम्

यह अन्तःपुर केवल कुलललनाओं के वासस्थान है, इसमें पवन भी सहसा प्रवेश कर नही सकता है। एतादृश दुष्प्रवेश अन्तःपुर में जो पुरुष निर्भय से प्रविष्ट होता है वह पुरुष ही अति साहसिक शिरोमणि है ॥१२६॥

एक और अन्तःपुर दुष्प्रवेश्य दुसरेऔर राजनन्दिनी विशेषत मादृश सखीजन द्वारा रक्षित हैं। इनकी कीर्त्तिरूप सुरधुनी में साध्वी

अङ्गं बलात् स्पृशसि यद्वृषभानुपुत्र्या
देवात् ततो दिनपतेरपि नो विभेषि ।
न त्वं किमत्र गणयिष्यसि लोक धर्मौं
लज्जा तु केयमिति तां नहि पर्य्यचैषीः ॥१२८॥
तन्माधवाद्य तवदिष्टमहं स्तुवे य
दार्य्या गृहे नहि नापि पतिः स कोपी ।

एव विनिमीलित लोचनाया ध्यानमुद्रित नयनायाः सख्याः वृषभानु पुत्र्याः अङ्गं बलात् साहसात् स्पृशसि यत्, तत् किं ततः देवात् दिनपतेः सूर्य्यात् अपि ने विभेषि ? त्वं किम् अत्र जगति लोक धर्मौं न गणसिष्यसि ? लज्जातु का इयम् इति तां लज्जां नहि पर्य्यचैर्षीः लज्जा-नाम पदार्थं न जानासि ? ॥१२७॥१२८॥

ललिता व्याजस्तत्या माधवं उपालम्भयति तदिति हे माधव ! श्रृङ्गाररसरसिक ! तत् तस्मात् कारणात् अद्य साम्प्रतं तव दिष्टं अदृष्टं अहं स्तुवे तत्प्रति धन्यवादं ददामि, यत् यस्मात् कारणात् आर्य्या अस्याः पतिदेवस्य माता गृहे आवास गृहे नहि विद्यते, अपराच

गण श्रवण कीर्त्तन रूप स्नान कर पवित्र होतीं है, मेरी सखी स्नान कर मित्र पूजाके उद्देश्य से आसन में वैठकर उस मित्र का ध्यान करने के लिए नयन द्वय मुद्रित कर हैं, साहसिक तुम, उनके अंग वलपूर्वक स्पर्श कर रहे हो ! सूर्य देवसे भी तुम्हारा भय नहीं है ? एवं लोक मर्य्यादा व धर्म मर्य्यादा को तुमने क्या छोड़ ही दिया है ? एवं लज्जा किसे कही जाती है, उसके साथ तुम्हारा क्या विलकुल ही परिचय नहीं है ॥१२७॥१२८॥

जो भी हो । आज तुम्हारा भाग अच्छा निकला है, कारण आर्य्या एवं वह उग्र पति दोनों ही घर में नहीं है, हम अवला

सख्योऽवलावयमहो करवाम किं ते

भद्रेण लम्पटवर त्वमितोऽवितोऽभूः ॥१२९॥

कृष्णोऽव्रवीत् कमपि नैव दधामिमन्तुं

गोशाल चत्वर मनुश्रित खेलनोऽहम् ।

दैवात् समस्मरमिमामथ सद्य एव

दैवेन केनचिदिवागमितोऽप्यभुवम् ॥१३०॥

वार्त्ता इयमस्ति सः कोपी कोप प्रधानः अभिमन्युः पतिः अपि अस्मिन् समये गृहे न वर्त्तते । तर्हि अस्माभिरेव प्रतीकारो विधेयः सोऽपि असम्भवः एव कथं: सख्यः वयं अवला: त्वं तु वलवान् अतएव अहो ! आश्वर्य्यं ते तव किं पूजादिकं करवाम् हे लम्पटवर ! रसिक शोखर ! इतः अस्मात् कारणात् त्वं भद्रेण शोभन रूपेण मर्य्यादया अवितः रक्षितः अभूः । १२९॥

प्रत्युत्तरे कृष्णस्य वचनं प्रस्तोति "कृष्ण इति" कृष्णः विदग्ध शिरोमणिः श्यामसुन्दरः अव्रवीत् उत्तरं दत्तवान्, अहं दुष्टो न नच स्वेच्छया आचरणमिदं कृतवान् कम् अपि अपराधं प्रतिकूलाचरणं न एव दधामि, तत् कथमत्र आगतवान् ? उत्तरे अवदत् अहं गोशाल-चत्वरम् अनुश्रित खेलनः क्रीड़ारतोऽपि दैवात् अतर्कित कारणात् इमां राधां समस्मरन् अथ स्तरणानन्तरं सद्यः तत् क्षणात् एव केनचित् दैवेन इव आगमितः अभुवम् ॥१३०॥

है तुम्हारा क्या कर सकती हूं । लम्पट वर ! ! तुम्हारे भाग्य आच्छा हैं, सकुशल वचगये हो ॥१२९॥

तव कृष्ण ने कहा, मेरा कोई दोष नहीं है, मैं तो गोशाला के अङ्गन में खेल रहा था दैवात् इनको स्मरण किया, एवं किसी देवता तत् क्षणात् मुझे यहांपर ले आया ॥१३०॥

राधाभ्यधत्त ललिते क्वनु वर्त्ततेऽसौ
देवी प्रतीति मुपयाति विलोक्य नो वा ।
देवीतु दीव्यति दृशैव गताधिरेत
द्धामान्तरत्र नुदमातनुते ततो नः ॥१३१॥
देवीति कां भणसि तां परिचाययात्रे
त्युक्त्वां सखीं हरिरथा ब्रुवदब्रुवाणाम् ।

एतस्मिन् अवसरे श्रीराधायाः आचरणं विवृणोति राधेति। राधा अभ्यधत्त, कथितवती, हे ललिते ! असौ देवी देवीजन. क्वनु कुत्र वर्त्तते यत् कृते मम ध्यानं ध्यानफलं च युगपदेव सद्यः अभूत, एतत् विलोक्यं साक्षात् कृत्यतस्याः प्रतीतिं विश्वासं निश्चयं उपयाति नो वा ? उत्तरे ललिता आह, देवी तु दृशा युवयोः मिलन दर्शनेन एव गताधिः निः सन्धिग्धा सती अत्र पूरोवर्त्ति धामान्तः गृहमध्ये दीव्यति शोभते, ततः कारणात् नी अस्माकं मुदम् आनन्दातिशयं आतनुते विस्तारयति ॥१३१॥

ललितायाः वचनं श्रुत्वा श्रीकृष्णः अवदत् देवीति। अत्र अस्मिन् समये गृहेऽस्मिन् "देवी" इति कांभणसि वदसि, ताम, उक्तां देवीं सखीं विश्वस्तां परिचायय दर्शय, इति एवं प्रकारेण उक्त्वा

राधा वोलीः-हे ललिते ! वह देवी अव कहाँ है ? दर्शन कर उनका विश्वास हो रहाहै अथवा नहीं ? ललिता वोली वह देवी तुम दोनों के मिलन से पीड़ा शून्य होकर इस घर में देदीप्यमान हो रही है, हम सवभी परम सुखिनी होगईं ॥१३१।

उस समय कृष्णने कहा, तुमसव जिस को देवी कहती हो, उनको दिखाओ ! तव ललिताने कुछभी उत्तर नहीं दिया; तवपुनर्वार कृष्णने कहा, इस थोड़े ही समय में तुम सव की जो धूर्त्तता उसे मैं

आं ज्ञातमद्य ललिते खलु धूर्त्तता वो
व्यक्तेयतैव समयेन बभूव दिष्ट्या ॥१३२॥
काप्यत्र सिद्धवनिता किमु खेचरी वा
देवी समेति तत एव गृहीतविद्या ।
मामत्यवश्यमियमात्मवशे विधाय
दासीयति प्रतिदिनं प्रसभं प्रकृष्य ॥१३३॥
सैवाद्य मह्यमपि कञ्चन मन्त्रमेकं
राधे ददातु भव भाविनि मे सहाया ।

कथनानन्तरं अथ हरिः श्रीकृष्णः अब्रुवाणां निरुत्तरां ताम् ललितां अब्रुवत् हे ललिते ! आं ज्ञातम् अद्यखलु इयता एव समयेन वः युष्माकम् सखीनाम् धूर्त्तता कपटता दिष्ट्या भाग्येन व्यक्ता प्रकटिता बभूव ॥१३२॥

अनन्तरं श्रीकृष्णस्य सोपहासवचनं विवृणोति कापीति । कापि अपरिचिता सिद्धवनिता अलौकिकशक्तिसम्पन्ना वशीकरणतन्त्रा निपुणा खेचरी आकाश चारिणी देवी दुर्ल्लोक वासिनी वा अत्र अस्मिन् अवरोधे समेति समागच्छति । इयं श्रीराधा वः युष्माकम् सखी ततः सिद्ध वनितायाः सकाशात् एव गृहीत विद्या सती अत्यवश्यं निश्चितं माम्, आत्मवेशे विधाय प्रतिदिनं प्रसभं स्वेच्छानुरूपं प्रकृष्य आकृष्य दासी यति अधीनं कर्त्तुमिच्छति ॥१३३॥

अच्छी तरह समझ गया हूँ ॥१३२॥

किसी सिद्धवनिता व खेचरी देवी तुम्हारे यहाँ आती होगी ? तुम्हारी सखी उससे किसी सिद्धमन्त्र ले लिया होगा ? जिससे अतिशय अवश्य जो मैं" मुझको भी प्रतिदिन वशीभूत एवं बलपूर्वक आकर्षण कर दासबनाने की इच्छा कर रही है, ॥ १३३॥

शिष्यं त्वमेव कुरु मामथवा प्रपन्न
मुत्कण्ठितं रहसि कुत्रचनापि नीत्वा ॥१३४॥
वंश्येव राजतितमामति सिद्ध विद्या
साङ्कं तवानयति साधुसतीः पुरस्त्रीः ।

श्रीगान्धर्विकायाः समीपे गिरिधरःस्वाभिलाषं निवेदयति सैवेति हे राधे श्री वृषभानुनन्दिनि ! सा विख्याता सिद्धवनिताएव अद्य अधुना मह्यम् श्रीकृष्णमपि किञ्चन किमपि एकं मन्त्रं आकर्षणमन्त्रं ददातु । हे भाविनि हे कामिनि ! मे श्रीकृष्णस्य मम सहाया अनुकूला भवः अथवा असम्भव पक्षे प्रपन्नं शरणागतं उत्कण्ठितं च मां कुत्रचन कस्मिंश्चित् स्थाने अपि रहसि निर्ज्जन प्रदेशे नीत्वा त्वं एव शिष्यं अनुशासनाधीनं कुरु । ललनासविधे मन्त्रग्रहणेन रसिकस्य क्षिप्रमेव मन्त्र सिद्धि र्भवेदिति ॥१३४॥

तदुत्तरे श्रीराधिका प्राह वंशीति । तव प्रिय सखी वंशी एव अतिसिद्धविद्यया राजतितमाम् वंशी सिद्धविद्या प्रकाशे सिद्धहस्ता भवेत्, अघटन घटन चातुरी तस्यां अभूतपूर्वा वर्त्तते । सा सम्मोहिनी विद्या पारगा साधुसतीः पुरस्त्रीः कुलाङ्गना तव अङ्कं संकल्पमात्रेणैव आनयति, ललनाकर्षणे सा सुदक्षा भवेत् । श्रीभानु सुतायाः सुमधुर वचनं श्रुत्वा श्री कृष्णः प्राह, तव कथनं तत् कृते सत्यमेव, किन्तु तां वंशीं च अपि यर्हि यस्मिन् समये चोरयसि अपहरणं कृत्वा त्वं आत्मसात् करोषि तदा तस्मिन् कालेसहाया वश्याः अभावात् मे मम निरू–

प्रियतमे ! इस समय मेरी बड़ी इच्छा हो रही है कि तुमने जिस देवी से मन्त्र ग्रहण किया है, वह देवी आज मुझे भी मन्त्र प्रदान करे। भाविनि, ! तुम हमारे सहाय होकर मन्त्र दिलादो । अथवा अति उत् कण्ठाके साथ तुम्हारी शरणले रहाहूँ, मुझ को किसी निर्ज्जन स्थान में ले जाकर अपना शिष्य बनाओ ॥१३४॥

ताश्चापि चोरयसि यर्हि तदा गति मे
का स्यादतो नहि तयापि तदार्थसिद्धिः ॥१२५
देवी ह्रिया तव गृहान्तरिहास्ति लीना
त्वाम् एव मन्त्रमुपदेक्ष्यति साकथं वा ।
उत्कण्टसे तदपि चेत् प्रविश स्वयं भोः
सा चेत् दयेत भविता एव कार्य्य सिद्धिः।:१३६॥

पायस्य का गति स्यात् भविता ? अतः त्वया वंश्या अपि एकया सदा सर्वकाले अर्थसिद्धिः प्रयोजनसिद्धि नहि स्यात् न भवेत्, अतः मन्त्रंदेहि,सत्वरं शिष्यं कुरु ॥१३५॥

राधा गिरिधरयोः कथनोपकथने समाधानाभावं दृष्ट्वाआशु समाधानार्थ ललिता प्राह देवीति, देवी स्वर्लोक वासिनी ललना तव ह्रिया त्वां दृष्ट्वा लज्जया इह पुरोवर्त्ति गृहान्तः लीना अस्तिगृह मध्ये लुक्कायिता तिष्टति, निष्क्रमितु समर्था नभवेत्, त्वाम् एव सा देवी ललना वा कथं केन प्रकारेण मन्त्रं उपदेक्ष्यति ? मन्त्रदाने आत्यन्तिक समीप वर्त्तिताया आवश्यकत्वं वर्त्तते, भोः हे कृष्ण ! तदपि मदुक्त विवरणं श्रुत्वापि यदि मन्त्र प्राप्त्यर्थ उत्कण्ठा वर्त्तते उत्कण्ठसे चेत्, यदि सा सिद्धललना दयते, तर्हि तदा तव कार्य्य सिद्धिः मन्त्रग्रहण रूपा सिद्धि भविता ॥१३६॥

राधिका बोलीः-वंशी तो तुम्हारी सिद्ध विद्या अच्छी तरह जानती है, पतिव्रता साध्वीगण की भी तुम्हारी गोदी में लादेदेतीहै, कृष्ण बोले, ना, वंशी को जब तुम चूरालोगी तब मेरी गति क्या होगी ? अतएव वंशी सेमेरी कार्य्य सिद्धिसर्वदा नहीं होती है ॥१३५॥

ललिता बोली, तुम्हें देखकर देवी लज्जासे घर में छिपी हुई है, बाहर नही हो रहीहैं, वे कैसे तुम्हें मन्त्र प्रदान करेगी ? यदि

इत्यच्युते विशति वेश्म जगादराधा
किं तत्त्वमत्र सखि मां वद संशयानाम् ।
राधे न सङ्कुच चल प्रविशामि तस्याः
सख्या स्तवात्र हरिणा कलयामिसङ्गम् ।।१३७।।
आलीषुमन्द हसितामृत वर्षिणीषु
कृष्णोक्ति पाटव मथोदभिनत् तदुप्तम् ।

ललितायाः उपदेशं श्रुत्वा अच्युतस्य गृहप्रवेशोद्यमम् वर्णयति, इतीति । इति पूर्वोक्तरूपेण ललितायाः देवी विषयकं विवरणं निशम्य अच्युते कृष्णे वेश्म गृहं विशति सति राधा भानुनन्दिनी स सम्भ्रमं जगाद, सखि ! ललिते अत्र अस्मिन् संशयानां विषये सन्दिग्ध विषये किं तत्त्वं रहस्यं वर्त्तते तत् रहस्यं मां वद राधावचनं आकर्ण्य ललिता आह उक्तवती, हे राधे, न सङ्कुच लज्जां न प्राप्नुहि, चल, अग्रसर, गृहं प्रविशामि, अहम् मया सह कागच्छ अत्र विभीषिका नास्तीति भावः । अत्र अस्मिन्नेव सदने तव तस्याःसख्याः देवीललनायाः हरिणा कृष्णेन समम् सङ्ग मिलनं कलयामि निभालयामि ।।१३७।।

यत्कृते प्रस्तुतग्रन्थस्योत्पत्तिः; तस्याः फलमाह आलीष्विति अथ वेश्म प्रवेशानन्तरं श्रीराधायाः हृद्वप्रं हृदय क्षेत्रं अनुअवलम्ब्य तदुप्तं तत् वीजं उप्तं तेन श्रीकृष्णेन उक्तं कृष्णोक्ति पाटवं कृष्णोक्ति नैपुण्यरूपं वीजम् तदेववीजं आलीषु प्राणप्रेष्ठ ललितादिषु मन्दहसिता

तुम्हारी उत्कण्ठा हो तो स्वयं ही घर में प्रवेश करो, यदि उनकी दया होगी तो तुम्हाराकार्य सिद्ध होगा ।।१३६।।

यह वात शुनकर कृष्ण घर में प्रविष्ट होने पर राधिका वोली ललिते ! वात क्या ? कहो' मुझे डर लगरहा है, ललिता वोली भय क्या है ? चलो हम सवभी तुम्हारे साथ जाकर श्रीकृष्ण के साथ तुम्हारी उस सखी का सङ्ग अवलोकन करूँगी ।।१३७।।

हृद्धप्रमन्वध्रित तर्कतरुस्ततोऽस्या
ऋद्धः फलं वहुरसं निखिलाववोधम् ॥१३८॥
अन्तर्दधेवहि रगादथवात्र देवी
तन्मार्गणाय तदित स्त्वरया प्रयामः ।
विद्यां त्वमेव सखि तामुपदिश्य कृष्ण
मानन्दयेति सहसा निरगुस्तदाल्यः ॥१३९॥
तत प्रेमसम्पुट गतै र्वहु केलिरत्नै
स्तौ मण्डितावजयतां रतिकान्तकोटीः ।

मृतवर्षिणीषु स्मितहसनमेव अमृतं तस्य वर्षणमेव स्वभावं यासु तासु सखीषु सतीषु उदभिनत् उद्भिन्नम् अङ्कुरितं अभूत्, ततः तस्मात् अस्याः श्रीराधिकायाः तर्कतरुः भृशंऋद्धः वर्द्धितः सन् निखिलाववोधं समग्रतात्त्विकज्ञानरूपं अप्रच्चुत रसमयं फलं अधित दधार ॥१३८॥

तस्मिन्नेवावसरे प्रियसखीललिता मधुरमुक्तवती, अन्तर्दधे इति । ललिता उवाच अत्र अस्मिन् सदने देवी स्वर्ल्ललना अन्तर्दधे

श्रीराधिका के हृदयरूप क्षेत्रमें श्रीकृष्ण के वचन नैपुण्य रूप जो वीज उप्त हुआ था, वह वीज अव सखी वृन्दरूप मेघ मालाके हास्य रूप अमृत के वर्षण से अङ्कुरित होकर अत्यन्त तर्क रूप तरुका उद्गम हुआ, सकल तत्त्व का जो यथार्थ ज्ञान रूप रसमय फल है वह उस तर्क तरुसे उत्पन्न हुआ ॥१-८॥

अनन्तर ललिता वोली,- सखि ! वह देवी अन्तर्द्धान होगई । किम्वा किसी और चलीगई ? उन को ढुढ़ने के लिए अव हमसव जा रहीं हूँ क्या करोगी, तुम स्वयं ही प्रियतमको उस मन्त्र देकरआनन्दित करो यह कह कर सखीगण सत्वर चलीगई ॥१३९॥

उस समय प्रेम सम्पुट के मध्य में जो वहुविध केलिरत्नथा

सन्तोऽपि यत् श्रवणकीर्त्तनचिन्तनाद्यै

स्तौ प्राप्तुमुन्नतमुदः सततं जयन्ति ॥१४०॥

अन्तर्हिता, अथवा इतः स्थानात् वहिः अगात् तत् तस्मात् वयं सख्यः तन्मार्गणाय तस्याः अन्वेषणाय त्वरया सत्वरं प्रयामः हे सखि, त्वम् एव तां सिद्धविद्यां कृष्णं उपदिश्य आनन्दय मनोरथं परिपूरय, इति एवं प्रकारेण उक्त्वा तदाल्यः तस्याः भानुनन्दिन्याः आल्यः सख्यः ललितादयः निरयुः भवनात् निर्गताः ॥१३९॥

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेणधीरः इत्युक्तदिशा ग्रन्थानुशीलनस्य फलमाह तदिति । तत्तदा सखीगण निर्गमणानन्तरं तौ राधागिरिधरौ प्रेम सम्पुटगते प्रेमपेटिका निहितैः वहु केलिरत्नैः मण्डितौ । भूषितौ सन्तौ रतिकान्तकोटीः कोटिमदनस्य दर्प चूर्णयित्वा अजयताम् जित वन्तौ, यत् यस्मात् सन्तः अपि तौ श्रीराधा कृष्णयुगलौ प्राप्तुं श्रवण कीर्त्तन चिन्तनाद्यैः उन्नतमुदः सन्तः अपरिमित लोकोत्तरानन्दव्याप्ताः सन्तः रति कान्त कोटीः असंख्यमदनंसततं निरन्तरं जयन्ति, तस्मात् हेतोः तयोः श्रीराधाकृष्णयोः सिषेव आत्मन्यवरुद्ध सौरतः इतिन्यायेन कामजये प्राकृतकामस्य निग्रहे किम् आश्चर्य्यम् अस्ति ! न किमपि : तदुक्तम् मुनिना —

विक्रीड़ितं व्रजवधुभिरिदञ्चविष्णोः

श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथवर्णयेद् यः ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥१४०॥

उससे दोनों ने दोनों को भूषित कर कोटि कोटि रति कान्तिको परा जित किया, यह और क्या विचित्र है ? क्यों कि उन युव युगल को लाभकरने के लिए सज्जनगण उस केलिरत्न के श्रवण-कीर्त्तन-चिन्त नादि द्वारा परमानन्दित होकर सतत कामदेव को पराजित करते हैं॥,

षट्शुन्यऋत्ववनिभिर्गणिते तपस्ये
श्रीरूप वाङ् मधुरिमामृतपानपुष्टः
राधा गिरीन्द्रधरयोः सरसस्तटान्ते
तत् प्रेमसम्पुटमविन्दत कोऽपि काव्यम् ॥१४१

इति श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तिविरचितं प्रेमसम्पुटाख्यं काव्यं सम्पूर्णम् ॥

सप्रश्रयं प्रेमसम्पुटनामकं ग्रन्थमुपसंहरति षट् शुन्येति । षट् शून्यऋत्ववनिभिः गणिते अङ्कस्य वामागतिरित्युक्तदिशा रचनसमयं निर्दिशति । षट्शून्यऋतु अवनिभिः १६०६ शाके तपस्ये फाल्गुने मासि राधा गिरिन्द्रधरयोः श्रीराधा गिरिधरयोः सरसः कुण्डस्य तटान्ते श्रीराधाकुण्ड श्रीश्यामकुण्ड तटे तत् प्रेम सम्पुटं काव्यम् अविन्दत श्री राधाकृष्णयोः कृपयैव स्फुरितमिदं काव्यमिति शेषः ॥१४१॥

इति श्रीवृन्दावनस्थ कालियदह निवासिना न्याय वैशेषिकशास्त्रिनव्यन्यायाचार्य काव्य व्याकरण सांख्यमीमांसा वेदान्त तर्क तर्क तर्क वैष्णवदर्शनतीर्थ विद्यारत्नाद्युपाधि भाजा श्रीहरिदास शास्त्रिणा विरचितं प्रेमसम्पुट व्याख्यानं सम्पूर्णम् ॥

१६०६ शकाब्द के फाल्गुनमास में श्रीराधाकुण्ड श्रीश्यामकुण्ड तट में अवस्थित् होकर किसी ने यह प्रेमसम्पुट काव्य प्राप्त किया, अर्थात् रचना की ।

श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तीठक्कुरकृत श्रीप्रेमसम्पुटस्य हिन्दीव्याख्या समाप्ता, १।६।७७

हरिदास समाख्येन वृन्दाविपिन वर्त्तिना
प्रेम सम्पुट भाषार्थः कृतोऽयंविदुषांमुदे ।
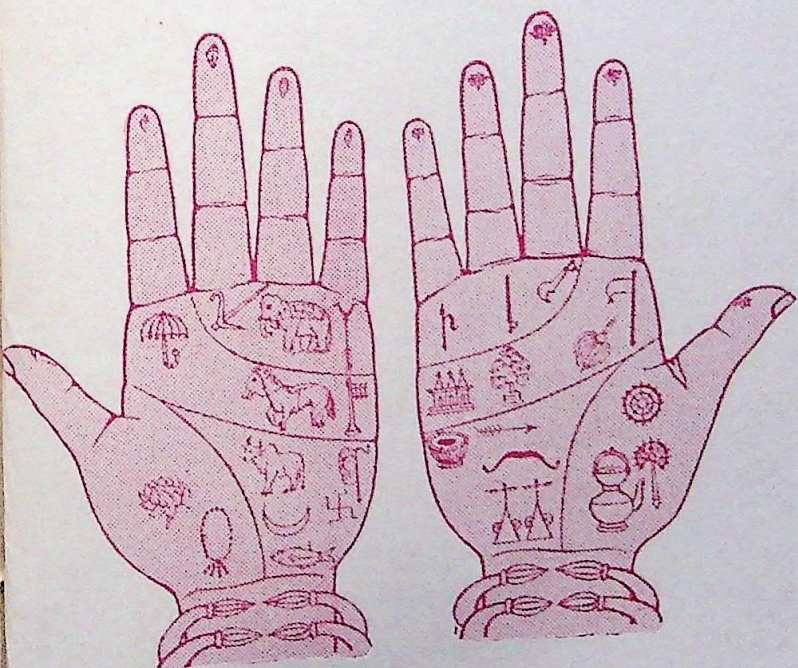
श्री गौराङ्गमहाप्रभु के हस्त चिह्न
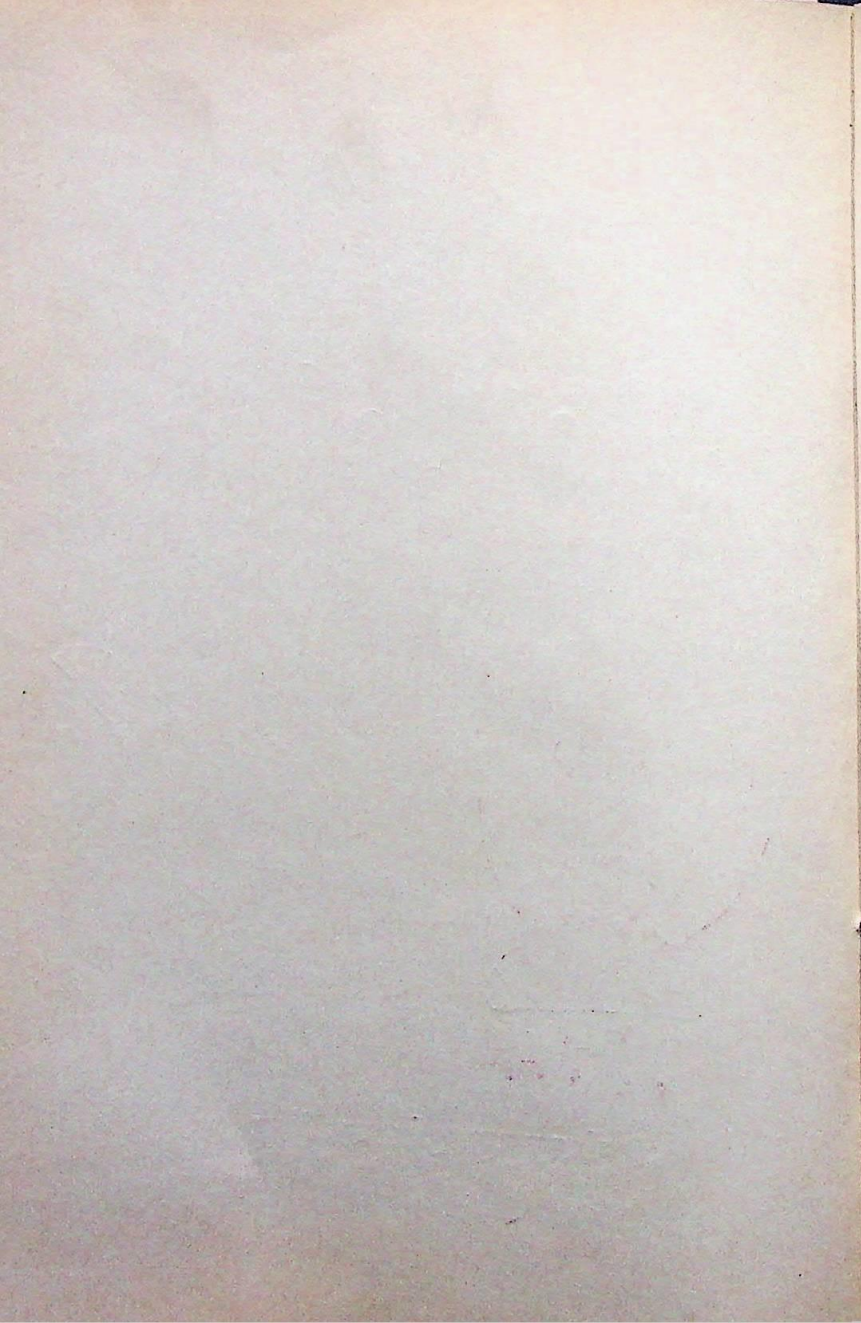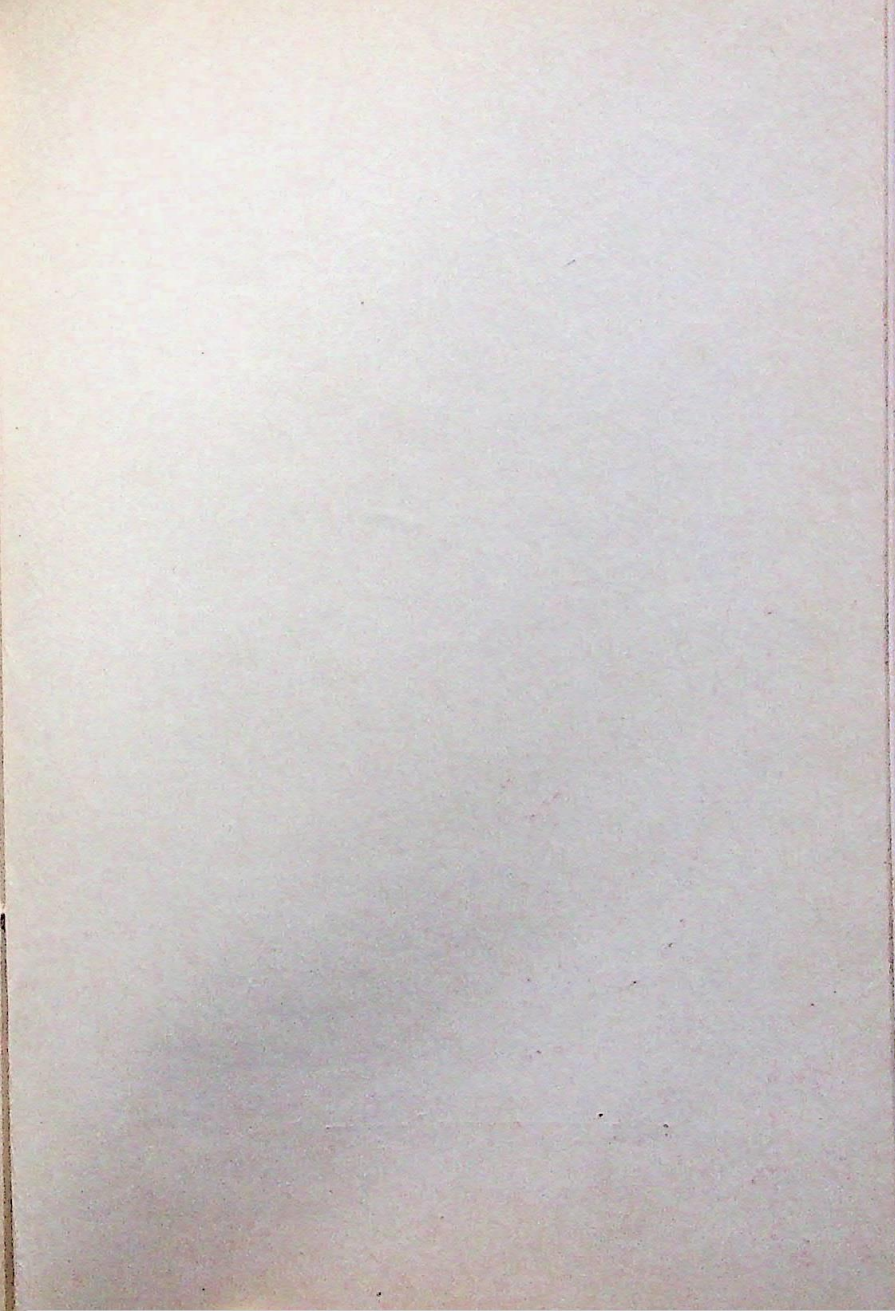
श्री गौराङ्गमहाप्रभु के चरण चिह्न
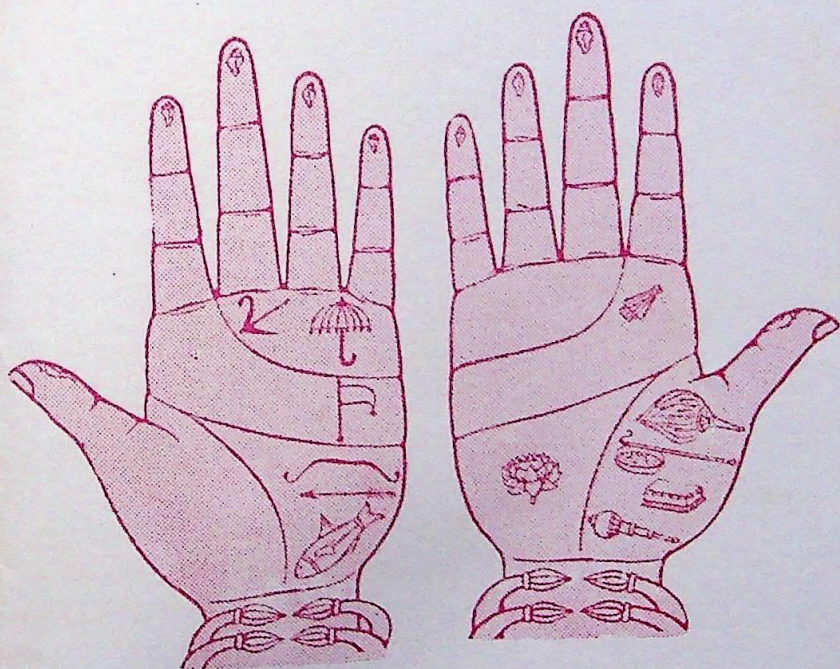
श्री नित्यानन्दप्रभु के हस्त चिह्न
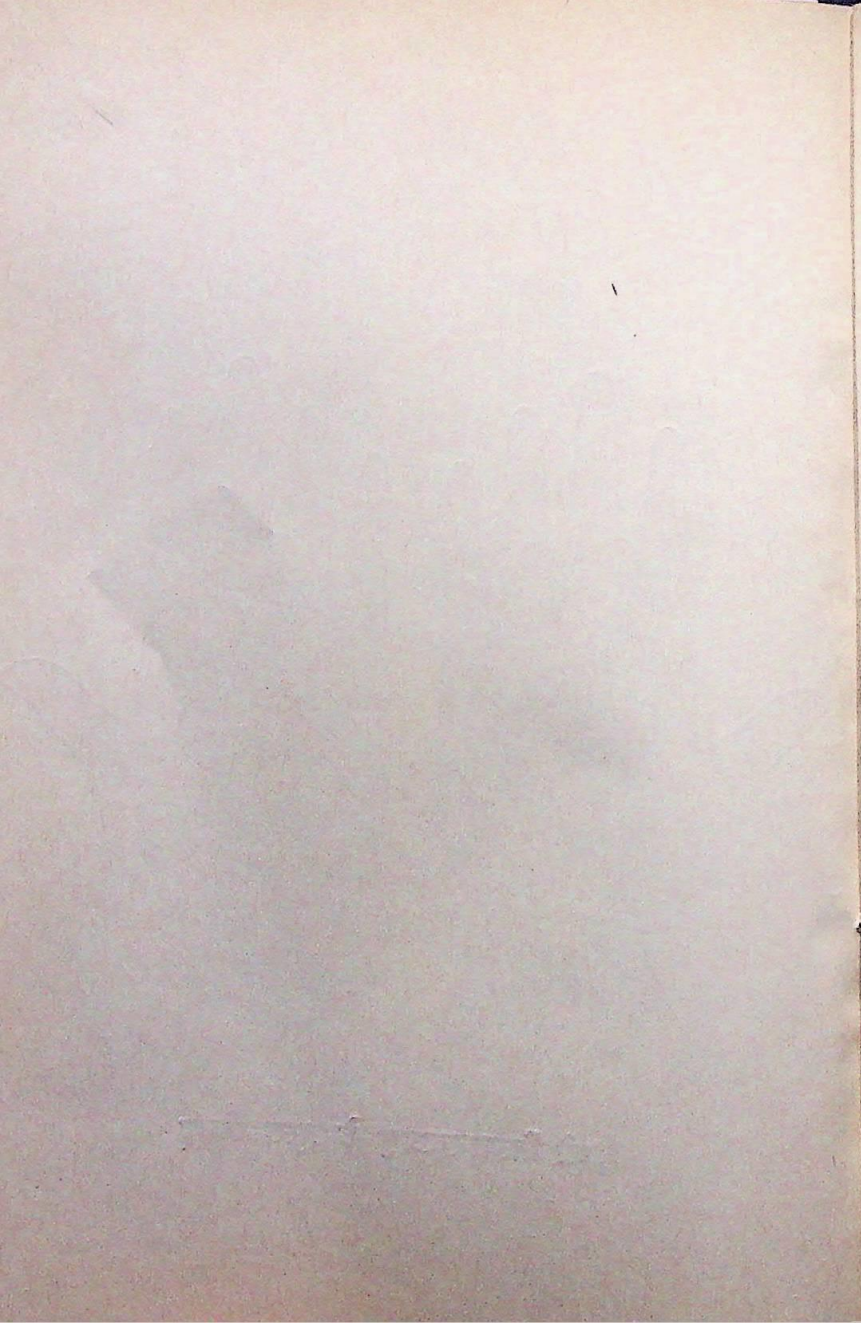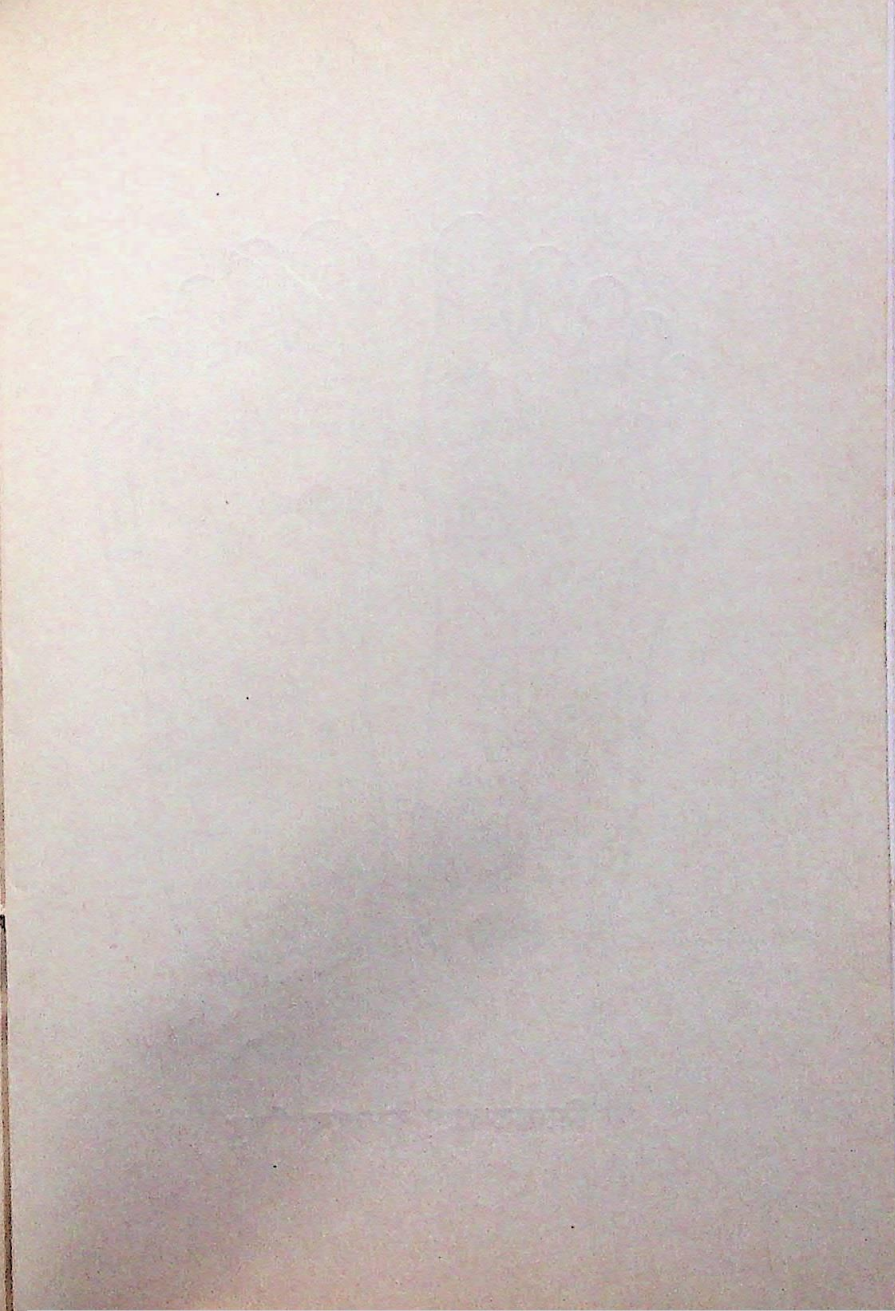
श्री नित्यानन्दप्रभु के चरण चिह्न
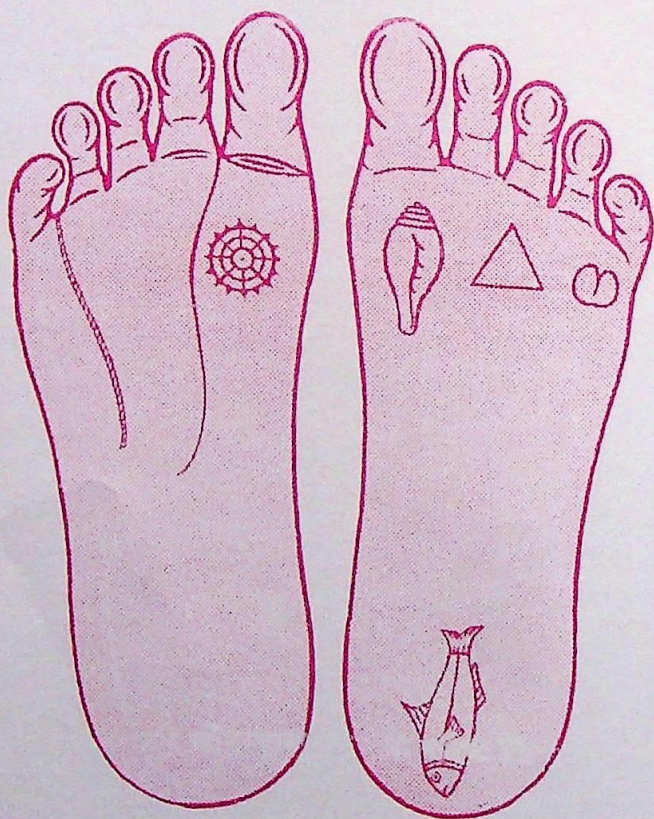
श्री अद्वैतप्रभु के चरण चिह्न
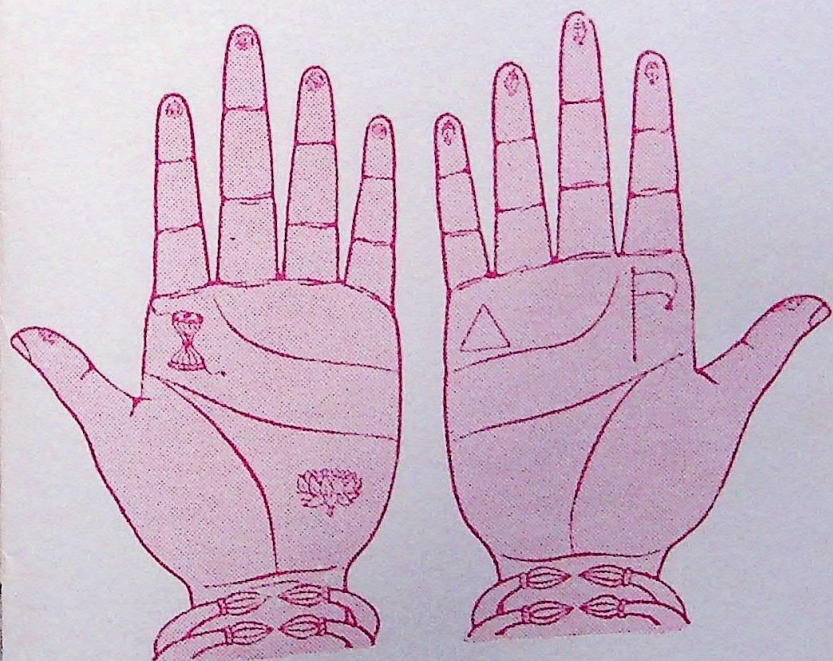
श्री अद्वैतप्रभु के हस्त चिह्न
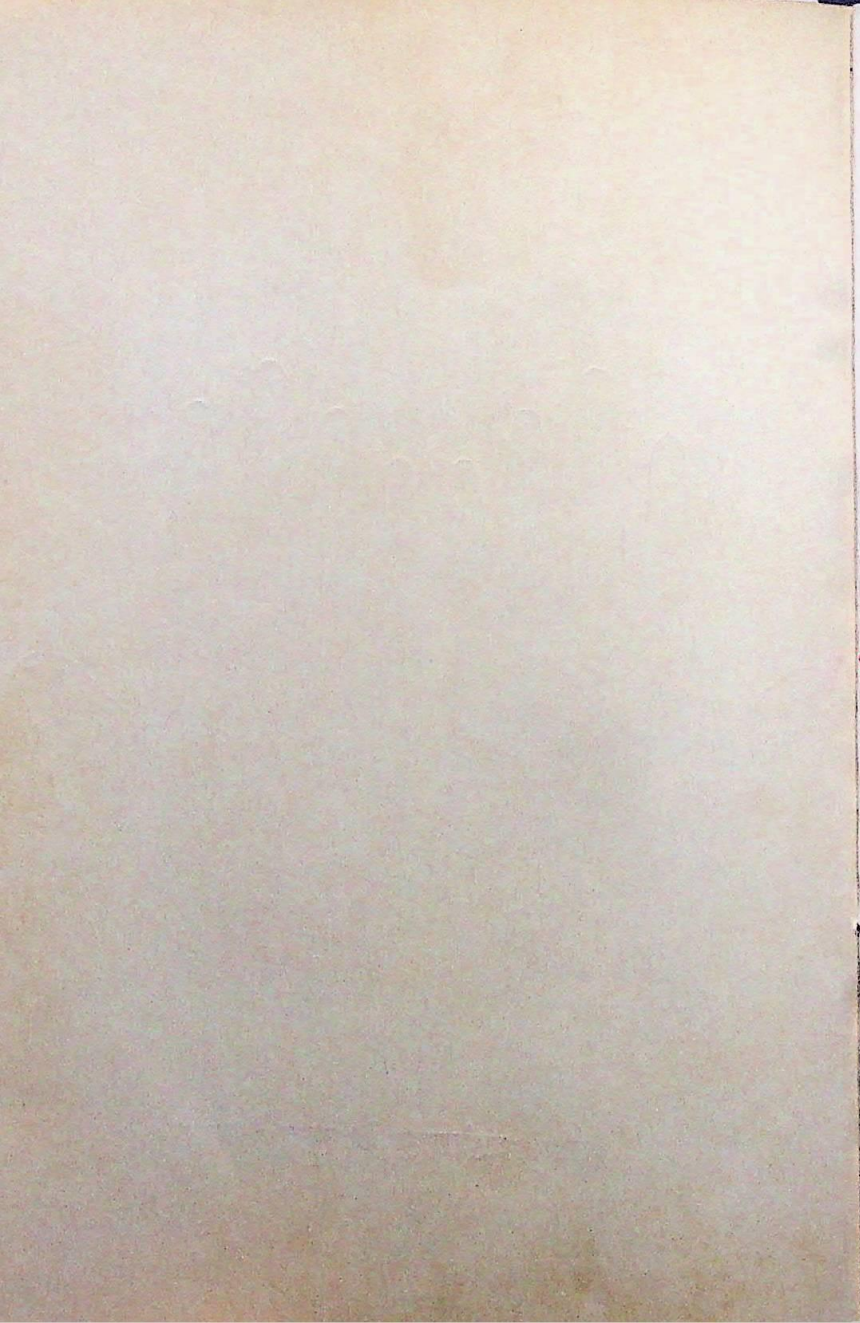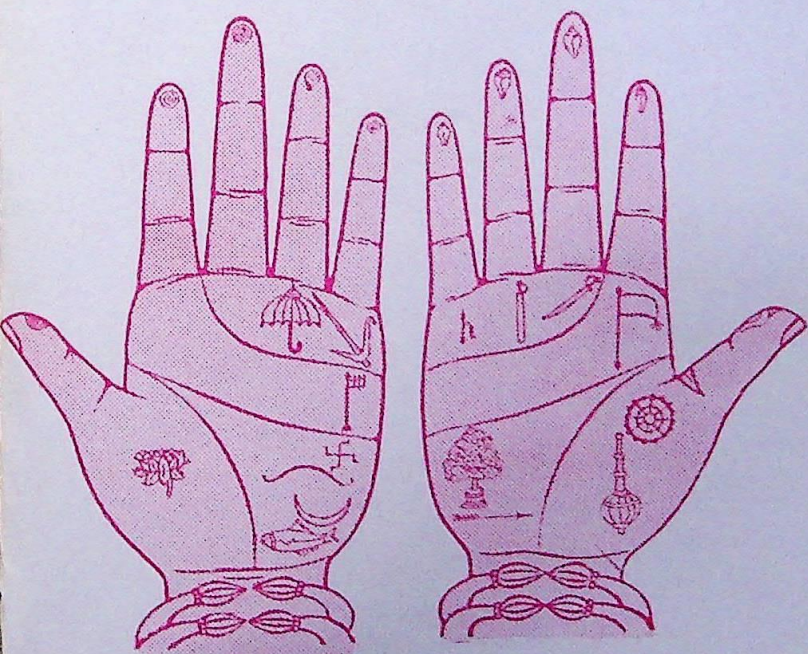
श्रीकृष्णचन्द्र के हस्तचिह्न
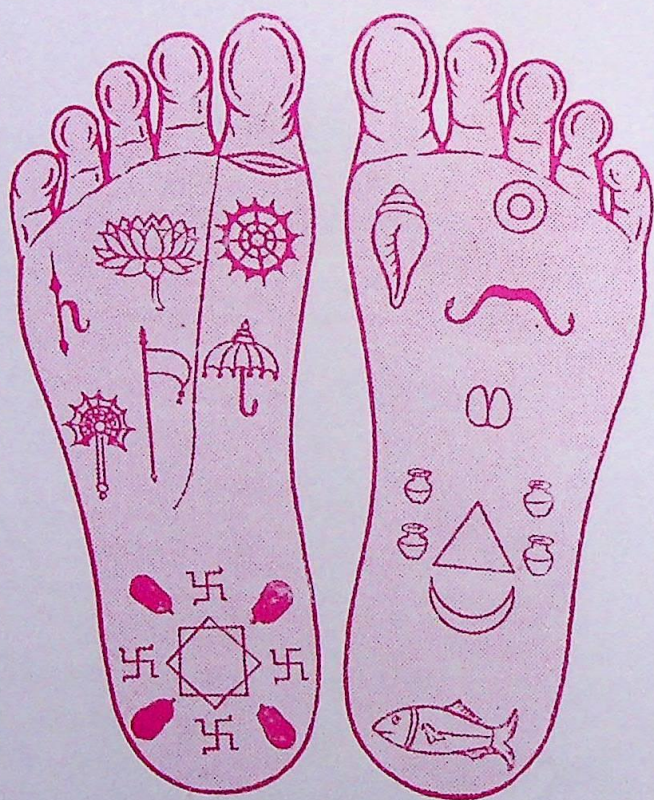
श्रीकृष्णचन्द्र के चरणचिह्न

श्रीभानुनन्दिनी के चरणचिह्न

श्रीभानुनन्दिनी के हस्तचिह्न

प्रकाशकः—

श्री हरिदासशास्त्री

श्री हरिदास निवास,

कालीदह वृन्दाबन ।

प्रकाशनतिथि

वसंत पंचमी

१-२-७९

प्रथमसंस्करण ५००

प्रकाशनसहायता

मुद्राचतुष्टयम् ४.००

मुद्रक :—

श्रीहरिदासशास्त्री

श्री गदाधर गौरहरि प्रेस,

श्री हरिदासनिवास

कालीदह-वृन्दावन

प्रकाशितग्रन्थरत्न	प्रकाशनरतग्रन्थरत्न
१। नृसिंहचतुर्द्दशी	१। ब्रजरीति चिन्तामणि (मूल, टीका, अनुवाद सह,)
२। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका (मुल अनुवाद)	२। श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश (सानुवाद)
३। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका (बङ्गलापयार)	३। वेदान्तदर्शनम् भागवतभाष्यसहितम्
४। श्रीगौरगोविन्दार्च्चन पद्धति	४। श्रीभगवद् भक्तिसार-समुच्चयः
५। श्रीराधाकृष्णार्च्चन दीपिका	५। हरिभक्तिसार संग्रह
६। श्रीगोविन्दलीलामृत मूल टीका अनुवाद (सर्ग—१-४)	६। श्रीगोविन्दलीलामृत
७। संकल्पकल्पद्रुम सटीक, सानुवाद	
८। ऐश्वर्य्यकादम्बिनी (मूल अनुवाद)	
९। श्रीकृष्णभजनामृतम् (सानुवाद)	
१०। चतुश्लोकी भाष्यम् (सानुवाद)	
११। श्री प्रेमसम्पुटः (मूल टीका अनुवाद सह)	

प्राप्ति स्थान—

सद्ग्रन्थ प्रकाशकः

श्री गदाधरगौरहरि प्रेस

श्री हरिदासनिवास

कालीदह वृन्दावन